श्रीकृष्ण-
सन्देश
वर्ष : ५ • अंक : ८

सन्त-महिमा

केवल जलमय तीर्थ-ही-तीर्थ नहीं हैं और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होती; ये तीर्थ और देवता तो बहुत समय तक सेवन करनेपर पवित्र करते हैं; परन्तु सन्त तो दर्शनसे ही पवित्रकर देते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी, मनके देवता तो उपासना करनेपर भी पापका पूरा-पूरा नाश नहीं करते; परन्तु ज्ञानी सन्तकी तो मुहूर्त भर सेवा ही सब पापोंको विनष्ट कर देती है। परन्तु ऐसे सन्तोंके दर्शन, स्पर्श, प्रणाम, पादपूजन आदिका सुअवसर भी उन्हींको मिल सकता है, जिनकी तपस्या कम नहीं है तथा जो अपने इष्ट देवका दर्शन केवल मूर्ति-विशेषमें नहीं, किन्तु सभी प्राणियोंके हृदयमें करते हैं।

—श्रीमद्भागवत १०।८४।१०-१२

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

वर्ष : ५ अङ्क : ८
मार्च, १९७०

वार्षिक शुल्क : ७.००
आजीवन शुल्क : १५१.००

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्गार

(मार्च १९७०)

★

पुण्य पत्तनस्था पञ्चाशत यात्रिका : कृष्ण जन्म-स्थान वृन्दावनस्थ दर्शनार्थं समागताः तत्र भागवत भवनादि निर्माणकार्यं दृष्ट्वा वयं सर्वेपि संतुष्टाः एतादृशं स्थानं अवश्यमेव सर्वेषां अपेक्षितं श्रीकृष्ण लीला मूलस्थानदर्शनेन कृतार्थाः सर्वेपि जाताः एतावतः एव जन्मनः साफल्य इत्युक्त्वा विरमाम्यहम् ।

प्रवचन रत्न

काशिनाथ शास्त्री जोशी

पुण्य पत्तनम् १२४७, सदाशिवि पेठ, पूणे ३०, महाराष्ट्र राज्यम्

मैं यहाँ आज पहले पहल आया, खुशी हुई, जो कार्य चारों तरफ हो रहा है वह पुरानी बातोंको याद दिलाता है कि भारतकी क्या महानता रही है । कैसे उसको बरबाद किया गया और फिर अब कैसे ठीक किया जा रहा है । देश भी इसी तरह गिरकर बन रहा है । यह सब कृष्ण भगवान्की देन है । धर्म अपना सत्य है और उस ओर हमको जाना है । यह स्थान उसकी नींव है ।

मंगलाप्रसाद

मन्त्री, उत्तर प्रदेश

भगवान् श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके अवलोकनका कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ । अपनी सदैवकी इच्छाके अनुकूल एक सम्मति देना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ कि हिन्दू धर्मकी अनेक वर्षोंसे प्रत्येक कृति महापुरुषों तथा भगवान्की पूजासे आगे नहीं बढ़ पाती परन्तु इस मन्दिरका प्रत्येक क्रिया-कलाप सांस्कृतिक स्फूर्ति केन्द्र बनकर कर्मयोगको महती प्रेरणा देनेमें समर्थ हो उस प्रकारका यहाँका आयोजन हो ।

बनवारीलाल

व्यवस्थापक विवेकानन्द विद्यापीठ, पो० दनकौर, बुलन्दशहर

भगवान् कृष्ण-जन्मभूमिके दर्शनकर बहुत आनन्द हुआ वास्तवमें यह स्थान बहुत सुन्दर प्रकारसे बनाया जा रहा है ।

लक्ष्मन सिंह यादव

सहायक आयुक्त (खाद), कृषि मन्त्रालय (भारत सरकार), नयी दिल्ली

मैं यहाँ तीन वर्ष पूर्व आया था। आज पुनः आनेपर इस स्थानका काया कल्प जैसा प्रतीत होने लगा। इस अल्प अवधिमें बहुत ही कार्य हुआ है इसका श्रेय यहाँ लगे हुए संचालकोंका है। श्रीकृष्णजी हमारे देशकी सर्वांगी संस्कृतिके पोषक प्रेरक एवं प्रवर्तक रहे हैं। श्रीमद्भागवत गीता आज संसारकी मानव जातिको मार्ग दर्शन कर रही है। विदेशी भी यहाँ आकर प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

कैलासप्रसाद

मन्त्री (उ० प्र० सरकार), मोती महल, (लखनऊ)

आज भगवान् श्रीकृष्ण-जन्मभूमिका करीब दो वर्ष बाद पुनः दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवधिमें जो सराहनीय प्रगति हुई उसे देखकर चित्तको बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँके प्रबन्धक व संचालक मंडल हार्दिक बधायीके पात्र हैं। यहाँसे भगवान्‌की अत्यन्त सुन्दर लीलाकी झाँकी मिलती है। भगवान् इस कार्यमें दिनों दिन तीव्र प्रगति देता रहे।

पी० एन० कौल

प्रबन्धक श्रीरंगजी मन्दिर, वृन्दावन

Australia is a large Continent but it has no holy place. India is very rich in Tradition but above all I was delighted to be here on the very spot where the Lord Krishna was born. The new buildings on this most significant site are exquisite and in keeping with the greatness of the locality. May His place and His love ever spread from a place that above was chosen and blessed by His appearance on our earth. In all Thy names and Forms.

Erwin Glattaner

18, Ewell st. Bondi N. S. W.
Australia

We are very much impressed to visit the birthplace of Lord Krishna. It is eye witness and confirm what it written in various books by different authors and shastras. Though it is small ramnant but requires further archeological research to bring out various facts about original story.

Dr. Madhusudan Shivadikar

Medical Practitioner, Chairman of Radha Krishna Shayam Ashram (Hindu Temple) 40, High Field Street
Leicester (O. K.)
England

I am very impressed and it is really big surprise to me to learn of this marvellous efforts to revive Beloved Krishna's memories. This requires a little more publicities and I am sure Gujratis will be very grateful and put in their mile in this scheme. I wish the scheme a huge success.

Bhogilal C. Shah
Saraswati Sadan, 47, Warden Road
Bombay-26

We are most fortunate in visiting to place where Lord Krishna was born. The place is maintained very nicely and the person in charge is a very kind and understanding person. The place is full of Holiness.

R. Ramananda Rao
Chief Personal Manager, India Leaf Tobacco
Development Co. Ltd.
Guntur (Andhra Pradesh)

Had the opportunity of visiting this great seat of Lord Krishna The precinet has been kept very clear and neat. Let Lord Krishna blessing be on the prople of this great country.

K. Lakkappa
Minister P. W. D.
Mysore State

It it really inspiring to visit Krishna Janmsthan and see all the good renovation work going on.

A. U. R. L. N. Murty
Technical Asst. to G. Manager
Tata Iron & Steel Co. Ltd.
Jamshedpur (Bihar)

★

प्रपत्र : चार

(नियम ८ के अन्तर्गत)

१.	प्रकाशन स्थल	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ केशवदेव कटरा, मथुरा
२.	प्रकाशन-आवृति	:	मासिक
३.	मुद्रकका नाम	:	देवधर शर्मा
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
४.	प्रकाशकका नाम	:	देवधर शर्मा संयुक मन्त्री, श्रीकृष्ण-जन्म- स्थान-सेवासंघ मथुरा
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ केशवदेव कटरा, मथुरा
५.	सम्पादकका नाम	:	पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	कैलगढ़ कालोनी जगतगंज, वाराणसी
६.	स्वत्वाधिकार	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ केशवदेव कटरा, मथुरा

मैं, देवधर शर्मा, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार सही है।

देवधर शर्मा

मार्च १९७०

संयुक्त मन्त्री, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

प्रकाशक

श्रीकृष्ण–सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

वर्ष : ५] मथुरा, मार्च १९७० [अङ्क : ८

सांख्ययोगका रहस्य

एक समयकी बात है, सनकादि महात्माओंने ब्रह्माजीसे तत्त्वज्ञान विषयक प्रश्न किया। ब्रह्माजीको स्वयं कोई उत्तर नहीं सूझा। तब उन्होंने मेरा स्मरण किया। मैं हंसरूप धारण करके वहाँ गया। सनकादिने ब्रह्माजीके साथ आकर मेरी चरणवन्दना की और पूछा—'आप कौन हैं?' तब मैंने उनसे इस प्रकार वार्ता आरम्भ की—

'ब्राह्मणो!' आप लोगोंने जो प्रश्न किया है, उसकी संगति नहीं दिखायी देती। यदि परमार्थ वस्तु एक है, अनेक नहीं है, तब वह सबका आत्मा ही है। फिर आत्माके सम्बन्धमें यह प्रश्न कैसे बन सकता है कि 'आप कौन हैं?' अपने आपसे यह कोई नहीं पूछता कि 'आप कौन हैं?' यह प्रश्न तो केवल दूसरेसे किया जा सकता है। किन्तु वास्तवमें दूसरा कोई है नहीं; अतः आपका यह प्रश्न असङ्गत है।

'अथवा यदि इस प्रश्नपर मैं कुछ बोलना भी चाहूँ तो मेरे वक्तव्यका आधार क्या होगा?' मैं किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ? देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक होनेके कारण वे एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं; वास्तवमें वे सब समान हैं—अभिन्न हैं; ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं?' यह प्रश्न केवल वाग्विलास है, विचार पूर्वक नहीं किया गया है; अतः निरर्थक है। मन, वाणी और दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है।' यह बात आप लोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये। चित्त विषय-चिन्तन करते-करते स्वयं विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं। यह बात सत्य है; तथापि विषय और चित्त दोनों ही मेरे

स्वरूपभूत जीवके शरीर हैं, उपाधि है; अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिए बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है तथा विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं। इन दोनोंको अपने वास्तविक स्वरूपसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिए। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं; सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिए तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका एक कालमें त्याग हो जाता है। यह बन्धन अहंकारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्ड ज्ञान और परमानन्द स्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर तीन अवस्थाओंमें अनुगत अपने तुरीय स्वरूपमें स्थित होकर संसारकी चिन्ता छोड़ दे। जबतक पुरुषकी विभिन्न पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और मम बुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी जागता हुआ भी सोता-सा ही रहता है। उसका वह जागना स्वप्नावस्थामें दीखने वाले जागरण-सा है। आत्मासे भिन्न देह-गेह आदि जो भी नाम-रूपात्मक पदार्थ प्रतीत होते हैं, उनकी किंचिन्मात्र भी सत्ता नहीं है; इसलिए उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि फल और उनके कारणभूत कर्म—ये सबके सब इस आत्माके लिए वैसे ही मिथ्या हैं, जैसे स्वप्नदर्शी मनुष्यके द्वारा देखे गये सबके सब पदार्थ। जो जाग्रत्-अवस्थामें समस्त पदार्थोंको देखता, स्वप्नावस्थामें वासनामय विषयोंका अनुभव करता तथा सुषुप्तिदशामें समस्त विषयोंको समेटकर उनके लयका भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत्के इन्द्रिय-वर्ग, स्वप्नके मन तथा सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है; क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। यह जगत् मनका विलास है, दीखने पर भी नष्ट प्राय है, अलातचक्रके समान अत्यन्त चञ्चल है, भ्रममात्र है। ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया; वैसे ही सिद्ध पुरुष, जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया–आया है—इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता। प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है, इसलिए अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक शेष हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला योगारूढ पुरुष प्रपञ्च सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता; जैसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको अपना नहीं मानता है। यह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है।

●

कृपाके विलास

श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

१. ईश्वरवादी मानव समाजमें यह सिद्धान्त सर्वसम्मतिसे मान्य है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अपराधीन, परमप्रेमास्पद एवं परमकृपालु है। किसी-किसी सम्प्रदायमें ऐसा स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र होनेपर भी प्रेमके परतन्त्र है। इसमें यह प्रश्न है कि ईश्वर जीवके हृदयमें रहनेवाले प्रेमके परतन्त्र है अथवा अपने हृदयमें रहनेवाले प्रेमके ? जीव जैसे भगवान्के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य, माधुर्य आदि सद्गुणोंको देखकर उनपर मुग्ध हो जाता है, तो ईश्वर जीवके किन गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध होता है ? वस्तुतः ईश्वर किसी अन्यके गुणोंको देखकर मुग्ध नहीं होता। उसमें ही उसका स्वरूपसिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है कि वह स्वयं अपनी कृपा बरसाने लगता है। 'मेघ जलमय प्रभु कृपामय', 'कृपैव प्रभुतां गता', 'प्रभु मूरति कृपामयी है।' प्राचीन ग्रन्थोंमें कारुण्य, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह, पुष्टि, दया आदिके नामसे एक ही वस्तु प्रसिद्ध है और वह है भगवान्का **सहज स्वभाव**। वह नैमित्तिक नहीं है, भागवत आनन्दका सरल-सरल, तरल-तरल पावन प्रवाह है।

२. भगवत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों और समस्याओंका समाधान उनकी कृपामें ही निहित है, जैसे निराकार साकार क्यों होता है ? अव्यक्त व्यक्तिके रूपमें क्यों प्रकट होता है ? पूर्ण परिच्छिन्न कैसे होता है ? अकाल कालकी धारामें कैसे आ जाता है ? कारण कार्यके रूपमें कैसे परिणत होता है ? वह मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके रूपमें क्यों अवतीर्ण होता है ? असम्बन्ध होनेपर भी सम्बन्धी क्यों बनता है ? इन सबका और ऐसी अनेक मानसिक विकल्प ग्रथियोंका, बौद्धिक उलझनोंका एक ही **समाधान है**—दृश्यके अनेक नाम-रूपमें अजस्र प्रवहमान एवं तरंगायमान कृपा स्रोतस्विनीकी अखण्ड धारा। सत् पुरुष अपने अन्तर्दर्शिनी, तत्त्वावगाहिनी दृष्टिसे इसका सन्तत दर्शन करते रहते हैं। कृपा एक **दर्शन है, भाव नहीं**। श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पासे समीक्षणका वर्णन है, प्रतीक्षणका नहीं। समीक्षण प्राप्तका होता है और प्रतीक्षण अप्राप्तका। सम्पूर्ण जीव-जगत्का कृपामय पमेश्वरमें ही उन्मज्जन-निमज्जन हो रहा है। कृपा-प्राप्तिकी लालसा मत करो, उसको पहचानो।

३. श्रीमद्भागवतके व्याख्याकार महापुरुषोंने कहा है कि जब श्री यशोदा माताने बालकृष्णको बाँधनेके लिए हाथमें रस्सी उठायी तो भगवान्की स्वतःसिद्ध अनेक शक्तियाँ

उसमें बाधा डालनेके लिए उद्यत हो गयीं। व्यापकता कहती थी कि जिसका ओर-छोर नहीं, वह रस्सीकी लपेटमें कैसे आयेगा? पूर्णता कहती थी कि जिससे बाहर-भीतर नहीं, वह रस्सीके भीतर कैसे अँटेगा? असंगता घोषणा कर रही थी कि प्रभुके शरीरके साथ रस्सीका संग असम्भव है। अद्वितीयताने स्पष्ट मना कर दिया कि स्वमें स्वका क्या बन्धन? बन्धन परके साथ होता है। इस आपाधापीके समय श्रीमती भगवती भास्वती कृपादेवी मन-ही-मन मुस्कुरा रही थीं। उन्होंने एकबार अपनी तिरछी चितवनसे देखा और सब शक्तियाँ निष्प्राण-सी धरी-की-धरी रह गयीं। बालकृष्ण प्रभु बन्धनमें आ गये। दामोदर नाम-रूप प्रकट हो गया। भक्त केवल प्रेमकी रस्सीसे ही नहीं, पशु बाँधनेकी रस्सीसे भी प्रभुको बाँध लेते हैं। भक्तमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर है—'कृपयासोत् स्वबन्धने।' ठीक ही है, भगवती कृपा ही शक्ति-चक्रवर्तिनी हैं, भगवान्‌की प्रेयसी पटरानी।

४. जब घर-बाहर-सर्वत्र प्रलयाग्निकी ज्वाला धधकने लगती है, अपने पाप-तापकी मायासे सम्पूर्ण विश्व झुलसने लगता है, उस समय एक सच्ची माँ जैसे अपने शिशुको गोदमें उठा लेती है वक्षःस्थलसे चिपका लेती है, उनको बाहरकी ताती वायु भी नहीं लगने देती, उनकी शय्या बन जाती है, अपने छातीके दूधसे ही उनका पालन-पोषण करती है, वैसे ही महाप्रलयके समय भगवान् सब जीवोंको अपनी ही सत्ता, ज्ञान और आनन्दमें लीन कर लेते हैं। उनके संस्कारशेष बीजके सिवाय अर्थात् उनके जीवत्वके सिवाय और कुछ भी शेष नहीं छोड़ते। जैसे माँके गर्भमें शिशु समग्र संपोषण और संवर्द्धन प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह जीव ईश्वरके गर्भमें विश्राम, आराम, शान्ति और पुष्टि प्राप्त करता है। महाप्रलयके समय भी इस प्रकार जीवकी शय्या बनकर उसे आराम देना और प्रलयकालानलके तापसे बचा लेना यह भगवान्‌की कृपाका ही एक स्वरूप है। यह जननी-कृपा है और जीवके जीवनमें भी सर्वदा ही अनुगत रहती है। जब-जब जीवका पौधा मुरझाने लगता है तब-तब उसकी वृद्धि-समृद्धि एवं पुष्टि-तुष्टिके लिए वह जननी ही उज्जीवनी बनकर आती है। आप किसी भी जीवके जीवत्वमें इस माँका दर्शन कर सकते हैं। यह उपवास और भोजन, शोषण और पोषण, प्रक्षालन और स्नेहन—सभी प्रक्रियाओंसे जीवका हित करती रहती है। इसको पहचाननेमें देर-सबेर हो सकती है, परन्तु इसके क्रियान्वयमें कभी कोई रुकावट नहीं पड़ती।

५. प्रलयके समय जीव शयनमें होता है। विस्मृति और अज्ञानका गहरा पर्दा इसको चारों ओरसे आच्छादित करके रखता है। उसे कोई दुःख चिन्ता नहीं है—यह तो ठीक है। परन्तु इस शयन-दशामें कुछ धर्म, अर्थ, भोग, मोक्ष भी तो नहीं होता। कोई शिशु सोता ही रहे निन्द्रा-तन्द्रामें अलसाया हुआ निकम्मा पड़ा रहे—यह बात किसी भी वात्सल्यमयी जननीको कैसे रुचिकर हो सकती है? वह चाहती है कि हमारा बेटा उठे, भले-बुरेको पहचाने, कुछ करे, कुछ कमाये, अपने पौरुषसे कुछ भोगे। भला कौन ऐसी माँ होगी, जो यह न चाहे। वही माँ अपने बालकको जगाती है। एक-एकको अलग-अलग जगाती है, एक साथ जगाती है। सबके आलस्य भगाती है, स्नान-मार्जन कराती है। हाँ, वही माँ जो जननी

थी, **प्रबोधनी** हो गयी। वह प्रबोधनी कौन है ? वह प्रभुकी कृपा है। यदि यह जीव प्रलयकी प्रगाढ़ निद्रामें सोता ही रहता तो क्या इसको किसी पुरुषार्थको प्राप्ति होती ? सोते हुए जीवोंको जागरण-दशामें लाना यह प्रबोधनी कृपा है।

६. श्रीमद्भागवतमें, सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगानेके लिए स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् शृङ्ग-ध्वनि करते हुए आते हैं—'प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा।' जागरणके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ ही वे भववनमें प्रवेश करते हैं। अनेक रूप-प्रपञ्चका दर्शन हो और न उसकी क्रीड़ा हो, इसलिए यहाँ आकर कृपा ही **प्रपञ्चनी** हो जाती है, अर्थात् अनेक प्रकारके दृश्योंका सर्जन-विसर्जन करने लगती है। जो कुछ कारणशरीरमें लुप्त, गुप्त या सुप्त था, उसको वह विस्तारके साथ फैलाती है। अन्तःकरण, बहिःकरण, विषय, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयोंका विस्तार-प्रचार, प्रसार प्रपञ्चनी कृपा ही करती है। अविद्या निद्रामें सुषुप्त जीवको जहाँ कुछ भी प्रतिभात नहीं होता था, वहाँ अब सब कुछ प्रतीत होने लगा। शिशुके नेत्र खुल गये, मन काम करने लगा। यह जो दृश्य, दर्शनकी सामान्य शक्ति है वह प्रबोधनी है और जो दृश्यकी अभिव्यक्ति है वह **प्रपञ्चनी** है।

७. अब कृपाका एक नया विलास प्रकाशमें आता है। बिना इस कृपाकी अभिव्यक्तिके कोई भी प्राणी अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलताको, सुपथ्य और कुपथ्यको नहीं जान सकता। वृक्ष अपनी वृद्धिके लिए कहाँसे मुड़े ? चींटी शक्करके साथ कैसे जुड़े ? पक्षी कौन-सा चारा खाये ? पशु कौन-सी घास चरे ? यह भोजन जीवनका साधन है और यह मरणका—यह कैसे जान पड़े ? करना, न करना, खाना न खाना, छिपना, प्रकट होना, बोलना, न बोलना—ये सब प्राणियोंको कैसे ज्ञात हो ? सचमुच वही वात्सल्यमयी जननी कृपाप्रशिक्षणी रूप धारण करके जीवनमें विशेष ज्ञानकी एक धारा प्रवाहित करती है। अग्नि-स्पर्श दाहक है। माताका वक्षःस्थल वाहक है। पाँवसे चलना, हाथसे खाना, प्यास लगनेपर जल पीना, इष्ट-अनिष्टकी पहचान कराना—यह सब भगवान्‌की **प्रशिक्षणी कृपा** का विलास है।

८. इसी प्रशिक्षणसे जीवनमें प्रणयन अर्थात् निर्माणका अवतरण होता है। जीवनके प्रणयनका मूल प्रशिक्षण ही है। इसके बिना जीव-जगत् सब अन्धे ही रहें। अन्तरमें बैठकर प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए उन्मुख कौन करता है ? वह अन्तःप्रविष्ट शास्ताकी प्रशासनशक्ति ही है। वह सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और भावोंका परस्पर विलक्षण विशेष-विशेष रूप, आकृति, गुण, धर्म, स्वभावकी रचनामें भिन्न-भिन्न प्रकारका उत्पादन, सम्भरण और संहरण क्यों करती है ? वह किसीके पूर्व-संस्कारोंका अनुगमन अथवा नवीनीकरण ही क्यों करती है ? विचारदृष्टिसे देखनेपर वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजनसे प्रेरित नहीं जान पड़ती। जब शक्ति अहैतुक ही कार्य करती है तो **प्रणयनी कृपा** के सिवाय उसके लिए दूसरा नाम नहीं हो सकता।

९. इसी प्रणयनके अनन्तर इष्ट-अनिष्टका भाव परिपक्व हो जाता है। तब इष्टकी प्राप्तिकी इच्छा होती है और अनिष्टकी परिजिहीर्षा। यह इच्छा ही **अभिलाषणी कृपा** का

रूप है। जो अभिलाषा देता है, वही प्राप्त भी कराता है और प्राप्तिके साधन भी देता है। धर्म, अर्थ, काम—कुछ पाना है। उसके लिए लौकिक वैदिक कर्म चाहिए। कर्मके करण-उपकरण चाहिए। कर्मका अधिकारी कर्ता चाहिए। उपयुक्त स्थान और समय चाहिए। सहायक और सामग्री चाहिए। फलकी प्राप्तिके साथ-साथ उसमें रुचि चाहिए। उसमें भोगके योग्य शरीर चाहिए। निर्विघ्न निर्वाह चाहिए। विशेष ज्ञान चाहिए। यह सब लेकर कौन आता है? प्रभुकी **प्रापणी कृपा** के ही ये भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह है सर्वदा, सर्वत्र, सबपर; परन्तु पहचानता है कोई-कोई।

१०. अनुकूल अथवा प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दातापर दृष्टि जानी चाहिए, परन्तु कुछ ऐसी मोहमयी लीला चल रही है कि अनुकूल में राग हो जाता है, प्रतिकूलमें द्वेष और दातापर दृष्टि नहीं जाती। रागसे पक्षपात और द्वेषसे क्रूरताका जन्म होता है। रागमें स्वाद और द्वेषमें कटुता; परन्तु ऐसा क्यों होता है? ऐसी दशामें प्रभुकी कृपा कहाँ प्रसुप्त हो जाती है? गम्भीरतासे देखो तो वह कहीं जाती नहीं है। हमारी स्वतन्त्र विवेक-शक्तिको जाग्रत् करती रहती है। क्या कल्पित गणित ठीक-ठीक सीख लेनेपर वास्तविक गणितका साधन नहीं बनता? बिना सुख-दुःखके झकोरे सहन किये किसके जीवनमें स्फूर्तिका उदय हुआ है? फिर भी हम मान लेते हैं कि राग-द्वेष विवेककी ओर नहीं, मूर्च्छा अथवा मोहकी ओर ढकेलते हैं। एक ऐसी मोहनी माया छा जाती है कि उससे देवता-दैत्य ही नहीं, शिव भी मोहित हो जाते हैं। यह मोहनी आत्माकी अक्षुण्ण प्रकाश-शक्तिपर ही आधारित है। जो मोहनी देवता-दैत्य—दोनोंके लिए **लोभनी** है वही फलकी प्राप्ति और अप्राप्ति—दोनों ही दशामें क्षोभणी हो जाती है और परिणामतः देवासुर-संग्राम होता है। इस संग्राममें कृपा भक्तके प्रति **उत्कर्षणी** और अभक्तके प्रति **अपकर्षणी** होकर प्रकट होती है। यही दैत्यराज बलिके भी सर्वस्वात्मसमर्पण और भगवद्वशीकरणमें हेतु बनती है। प्रह्लाद इसको पहचानते हैं। बलिकी धर्मपत्नी भी। यह **मोहनी कृपा** किसीको जहाँ-का-तहाँ जड़ बना देती है और रोधनी संज्ञा धारण करती है। किसीके मनमें विरोध उत्पन्न करके **विरोधनी** बन जाती है और उसका स्मरणोद्दीप्त मन प्रभुके सम्मुख कर देती है। इस प्रक्रियामें जो लोग प्रभुके कृपा-वैभवको देखकर मुग्ध होने लगते हैं, उन्हें वह प्रभुके सम्मुख कर देती है और **अनुरोधनी** बन जाती है।

११. यह मोहनी किस-किस विलक्षण और विचक्षण रीतिसे विभिन्नलक्षण जीवोंको रीतिसे विविध प्रवृत्तियोंमें लगाकर **प्रवर्तनी**का काम करती है और भिन्न-भिन्न योनियोंमें डालकर **परिवर्तनी**का रूप धारण करती है। किसी-किसीको पूर्वावस्थामें लौटाकर अपनेको **परावर्तनी** बना लेती है। यह पृथक्-पृथक् निरूपण करना शक्य नहीं है। संसारमें जितनी क्रिया है, भाव है, संज्ञा है—सभी इस मोहनीके नवनवायमान **अभिव्यञ्जनी**के ही रूपान्तरण हैं। जो इनके बाह्य स्वांगके रंगमें ही अपने अन्तरङ्गको रँग लेता है वह चक्रवातमें तृणके समान उड़ता-पड़ता रहता है और जो इसके अन्तरङ्गमें विराजमान करुणा-वरुणालय प्रभुके तरङ्गायित रूपको देख लेता है वह क्षण-क्षण उनका दर्शन करके आनन्दमग्न रहता है।

१२. प्रभुकी कृपाका एक रूप है—**आकर्षणी**। परन्तु वह प्रारम्भमें **विकर्षणी**का रूप ग्रहण करके आता है। विकर्षणी भी अपना सहज सौरभ तब प्रकट करती है जब वह तापनी होकर हृदयमें प्रपञ्च-संवेदनके प्रति **तापनी** बन चुकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब ईश्वरवियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमें ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभि वस्तुमें भी दुरभिसन्धिकी शङ्का होती है। रसमें भी विष घोला हुआ जान पड़ता है। सुरूपतामें छिपी कुरूपता दीखने लगती है। सुकुमार मारका दूत लगने लगता है। मधुर स्वर सुख विधुरताके कर्ण-भेदी ध्वनिसदृश प्रतीत होने लगते हैं और प्रिय-सम्बन्ध बन्धन लगने लगते हैं। तब यह तापनी संसारकी ओरसे विकर्षण करके प्रभुकी आकर्षण-धारामें डाल देती है। अब ऐसा लगने लगता है कि कोई मेरा प्रेमी है। वह मुझे अपनी ओर खींच रहा है बलात्। मेरा वास्तविक प्रियतम वही है। मेरा निवास-स्थान उसीके पास है। इतने दिनों तक मैंने घोर अन्धकारमें, पराये घरमें जीवन व्यतीत किया है। मैंने भ्रमवश सुखको दुःख माना है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ शान्ति नहीं है, प्रकाश नहीं है, सुख नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय, मधुमय प्रदेशमें चलना चाहिए, जहाँ बस वही-वह विहार करता है।

१३. जब इस प्रकारके संकल्प उठने लगते हैं तब इनके प्रवाहमें वासनाके मल घुलने लगते हैं। कृपा **क्षालनी** होकर आ जाती है और धीरे-धीरे अन्तर्देश पवित्र होने लगता है। वह कृपा **द्रावणी** और **स्नेहनी** भी बनती है। प्रभुके लिए तीव्र व्याकुलताकी ज्वालासे वह अन्तःकरणको द्रुत करती है और उनमें परमानन्दमय प्रभुके लिए एक प्रकारकी स्निग्धता उत्पन्न करती है। इस क्षालन, द्रावण और स्नेहनकी प्रक्रियाके बिना हृदयमें रासायनिक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता और उसमें भगवदाकार होनेकी योग्यता नहीं होती। वासनाएँ दूसरा आकार बना देती हैं। ममता कठोर बनाती है और अन्योन्मुखता रूक्ष करती है। इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिए कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और अन्योन्मुखता रूक्ष करती है इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिए कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और क्षालित, द्रावित एवं स्निग्ध हृदयमें भगवान्‌के प्रासादिक रूपका अनुभव कराती है। यहीं उसका एक नाम **प्रसादनी** भी हो जाता है।

१४. इस अवस्थामें ईश्वरके जिस स्वरूपका अनुभव होता है वह अत्यन्त विविक्त एवं स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि वासनाओंके शान्त हो जानेपर भी अविद्याके संस्कार बने रहते हैं; परन्तु हृदय शुद्ध होनेके कारण ईश्वरको सम्पूर्ण रूपसे अपना विषय बनानेके लिए एक दिव्य वृत्तिका उदय होता है। उसमें व्याकुलता नहीं है। दाह और ताप भी नहीं है, परन्तु एक सम्पूर्ण अनुभूतिके लिए आन्तरिक प्रयत्न होता रहता है। इस प्रयत्नको **अन्वेषणी, विवेचनी** अथवा **जिज्ञासनी** कृपाका नाम दिया जा सकता है। इसमें अपने अन्वेष्य अथवा अनुसन्धेय वस्तुके अतिरिक्त किसी और विषयकी ओर चिन्तनकी धारा नहीं गिरती। परिणामतः **प्रकाशनी** कृपा अभिव्यक्त हो जाती है। उस समय अपने अन्तःकरणके ही सूक्ष्मतम आधार प्रदेशमें भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है। वह स्वरूप न घटादिके

समान प्रत्यक्ष होता है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वस्तुतः वह अवेद्य अपरोक्ष ही होता है, परन्तु अन्वेषणीसे पृथक्, विवेचनीसे स्वरूप और जिज्ञासनीसे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें अनुभव होता है। इस अनुभूतिको **मेलनी**की संज्ञा दो जा सकती है; क्योंकि जिसका अनुसन्धान कर रहे थे वह अब मिल गया है। यह मेलनी ऐसी है कि फिर वियोजनी अथवा संयोजनी वृत्तिका संसर्ग नहीं होता; क्योंकि वियोग-संयोगकी कल्पनाके लिए कोई अवकाश नहीं रहता। कर्मके नष्ट होनेपर फलका नाश अथवा ह्रास होता है किन्तु प्रमाण वृत्तिके रहने, न रहनेका प्रमेय वस्तुपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुके लिए स्मरणी-विस्मरणी भी अकिंचित्कर है। भक्तिमार्गसे भी मेलनी केवल नित्य सम्बन्धकी अभिव्यंजनी होती है, उत्पादनी नहीं।

१५. इसमें सन्देह नहीं कि यह सर्वविध बन्धनसे मुक्त कर देती है, चाहे इसका रूप कुछ भी क्यों न हो? इसलिए मेलनीका ही एक नाम **मोचनी** हो जाता है। यह अनात्मासे, अनिष्टसे, द्वैतभ्रमसे सर्वथा मुक्त करनेमें समर्थ है। इसके बाद तीन रूप प्रकट होते हैं— **शमनी**में सम्पूर्ण वृत्तियोंको उपशान्ति होकर प्रपञ्चका अभाव हो जाता है। **स्वच्छन्दी**में वृत्तियोंकी प्रतीतिमात्र उपस्थिति-अनुपस्थितिका कोई महत्त्व नहीं रहता और **ह्लादनी** रसिक, रस्य और रसनको परमानन्द, एकरस कर देती है। तब भूमि, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समीर, आकाश, मन, भोक्ता, भोग्य, कर्ता, कर्म—कहाँ तक गिनायें—सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। धाम, नाम, रूप, लीला, गुण, स्वभाव, दुर्जन, सज्जन—सब कुछ रस-स्वरूप परमात्माकी निर्माय लीलामात्र होते हैं। यह ह्लादनी कभी **प्रसादनी**, कभी **अभिसारणी** और कभी **माननी** होकर आती है। सुखकी व्यञ्जनाके लिए मनाती है। मिलनेके लिए नदीकी तरह बहती है। आनन्दधारामें हिम-शिलाके समान मान करके बैठ जाती है। यह चाहे जो रूप धारण करे, रहती है—**भावनी**, **रञ्जनी**, **तर्पणी** और **नन्दनी**। चाहे आँख-भौं चढ़ी हो चाहे प्रसन्न; वह प्रियतमकी प्रसन्नताके लिए अपनी प्रियताकी अभिव्यक्ति ही होतो है। क्योंकि अब आनन्दरसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे यह कभी मिलकर **मोदनी** दिखाती है तो कभी **मादनी** दिखती है। संयोग और वियोग घुल-मिलकर एक हो चुके होते हैं और उनकी आकृति-विशेष होनेपर भी तत्त्व विशेष नहीं होता। वह रस-विशेषका उल्लास है, प्रेमका प्रकाश है, प्रीतिमहार्णवके तरङ्ग हैं, कभी दो हैं, कभी एक हैं। वहाँ 'कभी' है परन्तु काल नहीं। 'वहाँ' है परन्तु देश नहीं। दो हैं परन्तु द्वित्व नहीं। यह **सरूपणी** कृपा अभेद स्वरूपा ही है।

१६. इस कृपाका स्वरूप देशकाल-वस्तु-व्यक्तिसे परे भी है और उनमें अनुस्यूत भी है। वस्तुतः कृपाके अतिरिक्त और कोई महत्ता, सत्ता नहीं है। वह अरूपिणी रहकर सर्वरूपमें प्रकाशित होती है। कृपा और कृपालु दो तत्त्व नहीं हैं। जब, जहाँ, जो कृपालुका स्वरूप है तब वहाँ, वही कृपाका स्वरूप है। आत्मा-परमात्माका भेद और अभेद—दोनों ही कृपा हैं। जब सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च अन्धतमसाच्छन्न होता है, तब क्या हमारे नेत्रोंके भीतरसे सूर्य-

ज्योति बेरोक-टोक झाँकती हुई नहीं ज्ञात होती ? अन्धकारके पीछे क्या सूर्यमण्डल जगमगाता हुआ नहीं होता ? अन्धकार, दुःख, मृत्युके आगे-पीछे सर्वत्र वही मंगलमय ज्योति झिलमिला रही है। इस अरूपिणी कृपाको केवल पहचानना पड़ता है, पाना नहीं। तत्त्वज्ञानका अर्थ भी इसे पहचानना ही है। इसको चाहे ब्रह्म कह लो या 'आत्मा ? सगुण-निर्गुणका भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

१७. रूपिणी कृपा तब समझमें आती है जब वह हमारे इष्टके स्मरणमें हेतु बनती है, जैसे सत्संग मिले, भगवद्धाम मिले, कुछ काल तक भगवान्‌की आराधना मिले। भक्तकी दृष्टिसे वह रूपिणी कृपा होगी; क्योंकि वह साधनका रूप धारण करके आयी है। यह कृपा अपने-अपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिमें अनुकूलता उत्पन्न करनेपर पहचानी जाती है। जिज्ञासुको सन्त मिले, अर्थीको सेठ मिले, कामीको कामिनी मिले और धर्मात्माको सत्पात, तो उसे वह भगवान्‌की रूपिणी-कृपा समझेगा। परन्तु यह दृष्टि पुरुषार्थकी उपाधिसे है। इसमें कृपाकी सच्ची पहचान नहीं है। सच्ची कृपामें अपनी इच्छा या आवश्यकतापर दृष्टि नहीं जाती। उसमें तो प्रत्येक परिस्थितिमें ही उसका समीक्षण होता है, प्रतीक्षण नहीं, प्रार्थना भी नहीं। जो है उसके लिए क्या प्रतीक्षा और क्या प्रार्थना ? उसकी अनेकरूपता वैसे ही है, जैसी रास-लीलाके समय श्रीकृष्णकी अनेकरूपता या ब्रह्माके प्रति अनन्त रूपका दर्शन। कृपाकी पहचान हो जानेपर उसमें स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठाकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जो कुछ है, नहीं है, भासता है, नहीं भासता, प्रिय है, अप्रिय है, भेद है, अभेद है, कृपाका ही विलास है।

•

स्त्रियोंका परम धर्म

स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई बन्धुओंकी निष्कपट भावसे सेवा करें तथा संतानके पालन-पोषण पर ध्यान दें। जिन स्त्रियोंको उत्तम लोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो वे पातकीको छोड़कर और किसी प्रकारके पतिका परित्याग न करें। कुलीन स्त्रियोंके लिए जार पुरुष तो सब तरहसे निन्दनीय ही है। इससे उनका परलोक बिगड़ता है। स्वर्ग नहीं मिलता तथा इस लोकमें भी अपयश होता है।

(श्रीमद्भाग० १०।२९।२४-२६)

नतरु कबै उड़ि जाते

खंजन नैन सुरंग रस माते।
अतिसय चारु विमल दृग चंचल पल पिंजरा न समाते॥
वसे कहूँ सोइ वात सखी कहि रहे इहाँ किहि नातें।
सोइ संग्या देखत औरासी विकल उदास कला तें॥
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताटंक फंदाते।
सूरदास अंजन-गुन अटके, नतरु कबै उड़ि जाते॥

•

गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें आसक्त न हो

गृहस्थ पुरुषको कुटुम्बमें आसक्त नहीं होना चाहिए। भजनमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे इस बातको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही परलोकके भोग भी। स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनोंका मिलना-जुलना भी वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊपर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हैं। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटने तक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध भी शरीर रहने तक ही रहता है। ऐसा विचारकर गृहस्थ मनुष्य घरमें अतिथि की भाँति निवास करे। आसक्ति और ममता छोड़कर मेरा भजन करता रहे।

[श्रीमद्भाग० ११ । १७ ५२–५४]

रासका आध्यात्मिक स्वरूप

महारास

ब्रह्मचारी श्रीनिर्गुणचैतन्य

घोर एकान्त वनमें (अन्तःकरणमें) पूर्णिमाकी रात्रिमें (साधनाकी पूर्णावस्थामें) यमुनाके किनारे (प्रेम-प्रवाहके आश्रित) वटवृक्षके तले (वैराग्यके तले) चन्द्रमाकी शीतल किरणों (विवेक) से प्रकाशित (प्रदर्शित) गहन वन (अन्तःकरण) में भगवान् श्रीकृष्णने (हृदयदेशमें स्थित परमात्माने) मधुर स्वरोंमें वंशी-ध्वनि की। वह ध्वनि प्रभुकी इच्छासे गोपियोंपर (वृत्तियोंपर) कृपा करनेके लिए, उनके चिरकालकी तपस्या (प्रयत्न) को पूर्ण करनेके लिए गूँज उठी और व्रजबालाओं (वृत्तियों) के कर्णोंको पवित्र करती हुई उनके अन्तःस्तलको स्पर्श कर गयी। गोपियाँ (वृत्तियाँ) कार्योंमें (विषयोंमें) लगी हुई थीं तथा अपने-अपने पतियोंकी (इन्द्रियोंकी) सेवामें लगी हुई थीं। परन्तु आज भगवत्-कृपासे वंशीध्वनि सुननेपर (परमात्मकृपासे भगवदानन्दकी वृष्टि होनेपर) अपनेको अपने कार्योंमें रत न रख सकीं (विषयोंको छोड़कर) बरबस ही उनके पग चल पड़े उस ओर, जिधरसे वह ध्वनि आ रही थी (अन्तर्वीक्षण करने लगीं।) वह दिव्य वंशीकी ध्वनि गोपियोंके तन-मनको मानों पिघला रही थी। वे बेसुध-सी चली जा रही थीं (विषय-रसके प्रति कोई ज्ञान ही न रहा) पतियोंको सोते हुए ही छोड़ आयीं थीं (इन्द्रियोंके साम्राज्यसे पार हो गयी थीं) और आखिर जा ही पहुँची अपने श्यामसुन्दरके चरणोंमें, परन्तु अभी तक तो वह वंशी-ध्वनि (रसानन्द) में ही मस्त थीं। प्रभुको सामने रहते भी न देख पायीं। प्रभुने वंशी-ध्वनि रोक दी तो होश आया। (परमात्माकी पुकारके साथ तदात्मता भङ्ग होनेपर वृत्तियोंको पता लगा कि वे कहाँ हैं।) उन्होंने देखा वे हैं वनमें (हृदय-गुहामें) गाँवसे दूर, पति, घर, परिवारसे दूर (बुद्धि, मन, विषय तथा इन्द्रियोंके साम्राज्यसे दूर) अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरके पास, जो त्रिभङ्गी मुद्रामें (त्रिगुणोंसे परे अनुपम अलौकिक दिव्यता लिये, दिव्य सुन्दरता लिये) मधुर-मधुर मुस्करा रहे हैं। इस दृश्यको देख उनके मन मोहित हो गये। (वृत्तियाँ चकित हो गयीं कि ऐसा विषय तो उनको कभी नहीं मिला था।) भगवान्ने उपदेश किया, "गोपियों अपने-अपने घर लौट जाओ (अपने-अपने विषयोंमें लग जाओ) अर्धरात्रिमें अकेलीं अपने-अपने पतियोंको (इन्द्रियोंको) छोड़कर क्यों आयी हो।" आदि आदि। गोपियोंने कहा—"प्रभो ! यदि किसीका पति विदेश गया हो तो उसकी

पत्नी उसके चित्रका पूजन करती है। परन्तु उसके लौटनेपर जब वह द्वारपर खड़ा हो और वह चित्रका पूजनकर रही हो तो आप ही बताइये प्रभु कि वह असली पतिका पूजन करे या उसके चित्रका ?" भगवान्ने कहा—"असलीका"। तब गोपियोंने भी तड़ाकसे कहा—"हे प्रभो ! यह हमारे पति जो घरपर हैं (इन्द्रियोंके प्रिय विषयसुख) तो आपके प्रतिबिम्ब मात्र हैं। अब जब आप परमात्मा (परम विषय तथा प्राप्य वस्तु) सामने हैं तो हमारा आपकी प्रतिच्छबिसे क्या प्रयोजन ? आप ही हमारे पति है।

गोपियोंकी निष्ठा देख प्रभु प्रसन्न हुए तथा उन्हें कृतकृत्य करनेके लिए श्यामसुन्दरने कई रूप धरकर प्रत्येक गोपीके साथ अलग-अलग नृत्य करना आरम्भ किया (आत्माने प्रत्येक वृत्तिको अपना सारूप्य प्रदान कर दिया।)

गोपियाँ तो अलौकिक आनन्दमें विभोर थीं, उनमेंसे प्रत्येकने यही सोचा कि 'भगवान् केवल उसीके साथ हैं तथा उसीको अधिक चाहते हैं। तथा उन्हें चाहने पर श्यामसुन्दरको आनन्द होता है। (प्रत्येक वृत्ति सोचती हैं, हम चेतन हैं, हम ही श्याममयी हैं और सब नहीं) हम जैसे कहती हैं, श्यामसुन्दर वैसा ही करते हैं।' इस प्रकार जब गोपियोंको अभिमान हुआ तो भगवान् श्रीराधिकाजी सहित (चित्-शक्तिसहित) अन्तर्ध्यान हो गये। अब तो व्रजबालाओंका अभिमान चूर हो गया। श्यामका विरह न सह सकीं और वे विरहमें विकल हो प्रभु श्यामसुन्दरको खोजने लगीं। (श्याम और उनकी चित्-शक्तिके अभावमें वृत्तियोंने अपनेको नीरस जड़ तथा मृत पाया, इसलिए वे अपने प्राणपति परमात्माके लिए छटपटाने लगीं)। व्रजबालाएँ कृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते स्वयं भी कृष्णमयी हो गयीं और नाना प्रकारकी प्रभुकी लीलाएँ करने लगीं। (वृत्तियाँ खोज करते-करते आत्मस्वरूपा हो गयीं, शक्तिस्वरूपा हो गयीं।) तभी उन्हें श्रीराधाजी मिलीं (चित्-शक्ति मिलीं।) सभीने मिलकर श्रीकृष्णको पुकारा। श्रीकृष्ण आये (परमात्माकी उपलब्धि हुई) व्याकुल व्रजबालाएँ (वृत्तियाँ) चारों-ओरसे सिमटकर केन्द्रित होकर बैठ गयीं और श्यामसुन्दरके सान्निध्यमें फिर से आनन्दित हो उठीं।

सभी साधकोंकी साधना पूर्ण होनेपर यही नित्य प्रभु मिलन होता है। जिसे हुआ वही जानता है। वही धन्य है !

●

कुलको सहारा देनेवाला एक ही पुत्र श्रेष्ठ

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः शोकसंतापकारकैः।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रमते कुलम् ॥

शोक और संताप देनेवाले अनेक पुत्रोंके जन्मसे क्या लाभ ? समूचे कुलको सहारा देनेवाला एक ही पुत्र श्रेष्ठ है, जिसके भरोसे समस्त कुल सुख-शान्तिका अनुभव करता है। [नारदपुराण उत्तर० १७।१२]

प्रपत्तिका साङ्गोपाङ्ग विवेचन

शरणागति

आचार्य श्रीरामनारायण त्रिपाठी

★

न्यास या प्रपत्ति समस्त मोक्ष-साधनों तथा तपस्याओंमें श्रेष्ठ है—

शरणागतिके अङ्ग—

जिन अङ्गोंके द्वारा यह शरणागति परिपूर्णताको प्राप्त होती है, वे अङ्ग छः होते हैं :—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।
(लक्ष्मी-तन्त्र १७।६० – ६१ तथा अध्याय ३७)

१. आनुकूल्यसंकल्प
२. प्रातिकूल्यवर्जन
३. महाविश्वास
४. गोप्तृत्ववरण
५. कार्पण्य
६. आत्म-निक्षेप

इन छः अंगोंवाली शरणागतिमें प्रथम पाँच अंग हैं, तथा अन्तिम आत्मनिक्षेप अंगी है। शरणगतिके लिए इन अंगोकी अत्यन्त आवश्यकता है। इनके अभावमें शरणागति पूर्ण नहीं हो सकती। आत्मनिक्षेपके अंगी होनेके कारण शरणागतिको पञ्चाङ्ग ही कहा गया है— "निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः" (ल० तं० १७।७५) यह अङ्गाङ्गिभाव लक्ष्मी-तन्त्रके २८ वें अध्यायमें भली भाँति वर्णित है।

आनुकूल्यसंकल्प

प्रपन्न साधक भगवान्‌के समक्ष यह निवेदन करता है कि 'हे प्रभो ? मैं सर्वदा आपके अनुकूल रहूँगा। शास्त्रानुकूल आचरण करूँगा तथा आपकी विभूतिसे उत्पन्न चराचर प्राणियोंके अनुकूल रहूँगा।' इस प्रकारकी सर्वभूतानुकूलता ही आनुकूल्य-संकल्प है, क्योंकि ईश्वर सब प्राणियोंमें व्याप्त है। (ल० तं० १७।६६-६७)

प्रातिकूल्यवर्जन

शरणागतिका दूसरा अंग है—प्रतिकूल आचरणका परित्याग। इसका अभिप्राय यह है कि श्रुतिस्मृतिरूप भगवान्की आज्ञाका कदापि उल्लंघन न करना एवं किसी भी प्राणीके विपरीत आचरण न करना। (ल० तं० १७।६७)

महाविश्वास

सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ, परमदयालु, करुणावरुणालय भगवान् हमारी रक्षा अवश्य करेंगें, ऐसा दृढ विश्वास, जो कि अति प्रवल विरोधी युक्तियोंसे भी चलायमान न हो, उसे ही महाविश्वास कहते हैं। यह शरणागतिका तीसरा अंग है। (ल० तं० १७-७०-७२)

गोप्तृत्ववरण

ईश्वरको रक्षकके रूपमें वरण करना ही गोप्तृत्ववरण है। जब साधक अपनी रक्षाके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करता है, तभी ईश्वर रक्षा करता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वरको संसार-तन्त्रके निर्वाहके लिए रक्षापेक्षाकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि वह बिना प्रार्थनाके ही किसीकी रक्षा करें, और किसीकी न करें, तो वैषम्य और नैर्घृण्य दोष आ जायेगा। (ल० तं० १७।७३ तथा अ० सं० ३७।३०)

कार्पण्य

शरणागतिका पञ्चम अंग है कार्पण्य। अपनी अकिंचनता और साधन-विहीनताका अनुसन्धान, गर्वहानि आदिको ही कार्पण्य कहते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, तथा भक्तियोगमें असमर्थ होनेके कारण जीव अगति तथा अकिंचन होता है। ईश्वरके समक्ष इस अकिंचनता, साधनहीनताका निवेदन करना ही कार्पण्य है। लक्ष्मीतन्त्रमें गर्वत्यागको ही कार्पण्य कहा गया है। सामग्री, देश, काल, गुण, और अधिकारके अभावसे तथा अशक्तिसे कर्म, ज्ञान और भक्ति नामके उपाय सिद्ध नहीं होते हैं, तथा वे उपाय भी अनेक हैं, इस प्रकारकी जो गर्वहानि है, उस दीनताको ही कार्पण्य कहते हैं। (ल० त० १७।६८-७० तथा स्तोत्ररत्न २२)

आत्मनिक्षेप

शरणागतिमें यह आत्मसमर्पण ही अंगी है। लक्ष्मीतन्त्रमें आत्मनिक्षेपका अर्थ बताते हुए कहा गया है कि 'ईश्वरके द्वारा संरक्षित पुरुषके फलमें स्वामित्वके अभाव तथा ईश्वरके प्रति उस फलके समर्पणको ही आत्मनिक्षेप कहते हैं। आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण, आत्मन्यास, आत्महविप्, आत्मसंन्यास, आत्मत्याग तथा आत्मनिक्षेप आदि शब्दोंका यही तात्पर्य है। आत्मा और आत्मीयका भरन्यास ही आत्मनिक्षेप है। इस प्रकार शरणागतिमें आत्मनिक्षेप अंगी तथा अन्य पाँच अंग हैं। (ल० तं० १७।७४, ८० तथा न्यासदशक १ श्लो०)

ये शरणागतिके प्रथम तथा द्वितीय अंग आनुकूल्य-संकल्प तथा प्रातिकूल्य-वर्जन शरणागत साधकोंको अपायोंसे विरत करते है। कार्पण्य अर्थात् अकिंचनता उसे उपायोंसे

भी विरत करती है। महाविश्वासके द्वारा वह अपने अभीष्ट उपायकी कल्पना कर लेता है। गोप्तृत्ववरण शरणागतको निर्भय और भररहित करता है; जिससे वह अन्य उपायोंको न करे। इस प्रकार इन पाँच अंगोंके साथ शरणागत अपना सम्पूर्ण समर्पण ईश्वरको करता है।

शरणागत (प्रपन्न) के भेद—

शरणागत दो प्रकारके होते हैं :—

१. आर्त

२. दृप्त

आर्त प्रपन्न

आर्त प्रपन्न (शरणागत) वे होते हैं, जिन्हें शरणागतिके अनन्तर मोक्ष-प्राप्ति-हेतु एक क्षणका भी विलम्ब सह्य नहीं होता। वे शीघ्रउम फलेच्छु होते हैं। अत्यधिक भक्तिके कारण वे श्री भगवान्‌को अत्यन्त शीघ्र प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे शरणागत प्रारब्ध देहके प्रति भी अनासक्त होते हैं। इन शरणागतोंके प्रारब्ध कर्मोंका नाश भी हो जाता है और वे तत्क्षण ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

दृप्त प्रपन्न

दृप्त प्रपन्न (शरणागत) जो कर्मपर्यन्त मोक्षप्राप्तिकी कामना करते हैं। वे तत्क्षण मोक्षकी इच्छा नहीं रखते। वे श्री भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, कि 'उनको प्रारब्धकर्मभोग-पर्यन्त इस संसारमें रखा जाय, तत्पश्चात् मोक्ष प्रदान किया जाय।' अतः वे अपने वर्तमान जन्मपर्यन्त संसारमें रहते हैं, परन्तु उनके संचित तथा क्रियमाण कर्म विनष्ट हो जाते हैं। शरीरावसान पर उन्हें मोक्षप्राप्ति हो जाती है।

शरणागतिके भेद—

शरणागति तीन प्रकारकी होती है—

१. स्वनिष्ठा

२. उक्तिनिष्ठा

३. आचार्यनिष्ठा

स्वनिष्ठा

प्राणी आचार्यके उपदेशसे स्वरूप तथा परस्वरूप इत्यादिके विषयमें विशद ज्ञान प्राप्तकर जो स्वयं भगवान्‌की शरणमें जाते हैं, स्वनिष्ठा कहते हैं।

उक्तिनिष्ठा

कुछ मनुष्य विशद ज्ञान न होने पर भी यह समझते हैं कि शरणमें जानेपर श्री भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे; ऐसा निश्चयकर श्री भगवान्‌की सन्निधिमें जाकर वहाँ आचार्यके द्वारा उपदिष्ट द्वय मन्त्रका उच्चारण करते हुए उनकी शरणमें जाते हैं। श्री भगवान् द्वय मन्त्रका विशद ज्ञान न होने पर भी फल देते हैं।

आचार्यनिष्ठा

इस शरणागतिमें शरणागत अन्यान्य शरणागतोंके समान स्वयं श्री भगवान्‌की शरणमें नहीं जाते, किन्तु आचार्यकी शरणमें ही रहते। इनके विचारमें आचार्य ही शरण है, और उनकी कृपासे ही मोक्ष प्राप्ति होगी। आचार्य इन शरणागतोंकी रक्षाका भार श्री भगवान्‌को अर्पण करता है, तथा उनसे लेनेकी प्रार्थना करता है। इस प्रकार आचार्य द्वारा भर समर्पण किये जानेपर श्री भगवान् प्रसन्न होकर आचार्यकी शरणमें रहनेवाले जीवोंकी रक्षा करते हैं तथा मोक्ष प्रदान करते हैं।

शरणागतिकी भूमिकाएँ—

साधनाके निरन्तर अभ्यासके परिपाकवश भगवत् शरणागतिकी तीन भूमिकाएँ होती हैं जिसे स्वामी मधुसूदन सरस्वतीने इस प्रकारसे वर्णन किया है—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यास पाकतः॥

गी० १८।६६ मधु० टीका

प्रथम भूमिका (मृदु)

जिसमें भक्तकी प्रबल भावना यह बनी रहती है कि मैं उस भगवान्‌का ही हूँ 'तस्यैवाहम्' अन्यका नहीं। इसमें ईश्वरकी महत्ता तथा असीमता प्रकट करता हुआ भक्त अपनेको उसका एक अभिन्न स्वरूप मानता है। जैसे—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

हे नाथ! यद्यपि हमारे और आपमें कोई भी भेद नहीं है, तब भी आपका मैं हूँ, आप मेरे नहीं हैं। क्योंकि जैसे समुद्रकी तरङ्गें होती हैं, यही लोकव्यवहार होता है न कि कहींपर तरंगोंका समुद्र है ऐसा व्यवहार होता है। समुद्र और लहरें अभिन्न होते हुए भी लोकमें भेदपूर्वक व्यवहृत होती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है 'गिरा अर्थ जल वीचि कह कहियत भिन्न न भिन्न'। इसी प्रकार अग्नि तथा विस्फुलिंग, वृक्ष तथा शाखा, अवयवी तथा अवयव आदि स्थलोंपर भी उक्त नियम व्यवहृत होता है। अग्निके विस्फुलिंग, वृक्षकी शाखा, अवयवीके अवयव हैं, ऐसा व्यवहार होता है किन्तु विस्फुलिंगोंकी आग, शाखाके वृक्ष, अवयवोंके अवयवी, ऐसा व्यवहार नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस भूमिका भेदका आभास रहता है। यह भूमिका मृदु भूमिका है, इसमें ईश्वरके प्रति बड़प्पनका भाव तथा अपने प्रति लघुताका भाव बना रहता है। अम्बरीष आदि भक्त इस भूमिकाके उदाहरण हैं।

द्वितीय भूमिका (मध्य)

जिस अवस्थामें 'ममैवासो' यह भगवान् मेरे ही हैं, दूसरे किसीके नहीं हैं; यह भावना होती है, उसे द्वितीय भूमिका कहते हैं। इस भूमिकामें भेदका

आभास रहता है, तथा ईश्वर और साधकमें आत्म-आत्मीय, सेवक-सेव्य, सम्बन्ध रहते हैं। जैसे—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

गोपियाँ कृष्णसे कह रही हैं कि हे कृष्ण! बलात् हाथ छुड़ाकर जो तुम जा रहे हो इसमें क्या आश्चर्य है क्योंकि हम लोग तो अबला ही हैं। यदि तुम हृदयसे निकल जाओ, तब तुम्हारे पौरुषकी गणना करूँ। इसका तात्पर्य यह है कि तुम मेरे हो मुझसे अलग नहीं हो सकते। इसमें भी भेदसहित ही अभेद है।

तृतीय भूमिका (अवधिमात्र)

जिस अवस्थामें भक्त अपने और भगवान्में ऐक्य स्थापित कर लेता है और अपनेको 'स एवाहम्' वही समझ लेता है उसे तृतीय भूमिका कहते हैं। इसमें किसी प्रकारकी भेद भावना नहीं रहती। साधक, ईश्वर और सकल चराचर जगत् सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। जैसे यमराज अपने दूतोंको इस भूमिका का परिचय देते हुए चेतावनी दे रहे हैं—

सकलमिदमहं च वासुदेवः परम पुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रजतान् विहाय दूरात्॥

यह सम्पूर्ण जगत् तथा मैं सब कुछ वासुदेव है। वह परम पुरुष परमेश्वर एक है। जिसकी अनन्तस्वरूप भगवान्के प्रति ऐसी अचल बुद्धि उत्पन्न हो जाय, उन्हें तुम लोग दूरसे ही छोड़कर चले जाना।

अहिर्बुध्न्यसंहिताके ३७ अध्यायमें न्यासको एक सर्वश्रेष्ठ यज्ञ माना गया है, और यज्ञसामग्री तथा यज्ञ प्रक्रियाके समान इसका विस्तृत विवेचन कर अन्य यज्ञोंकी अपेक्षा शताधिक महत्ता इसकी बतायी गयी है।

पाञ्चकालिक कृत्योंका शरणागतिमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कृत्योंको प्रायोगिक प्रपत्ति-साधना भी कहा जाता हैं। वेदान्त देशिकने प्रपत्ति तथा पञ्चकालका वर्णन किया है। लक्ष्मीतन्त्रमें भी पाञ्चकालिक कृत्योंका वर्णन कर पूर्ण अहोरात्रको पाँच भागोंमें विभाजित किया गया है—

१. अभिगमन
२. उपादान
३. इज्या
४. स्वाध्याय
५. योग

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तसे लेकर दिनके प्रथम प्रहर पर्यन्त अभिगमन काल होता है। द्वितीय प्रहर उपादान काल और तृतीय प्रहर इज्या काल तथा चतुर्थ प्रहर स्वाध्याय काल होता है। रात्रिके आरम्भसे लेकर ब्राह्ममुहूर्त तक योग काल है। अभिगमनकालीन कृत्य इस प्रकार हैं—ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रा त्याग प्रथम कृत्य है। शास्त्रानुसार शौच, दन्तधावन तथा आचमन आदि करके स्नान आदि करना चाहिए। तदनन्तर संध्यादेवीकी उपासना करनी चाहिए, और इसके पश्चात् आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषोत्तमकी उपासना करनी चाहिए। इसके पश्चात् उपादानकाल होता है। भगवदुपासनाके लिए आवश्यक सामग्रियोंका संग्रह ही इस कालका प्रयोजन है। फूल, वस्त्र, धन-धान्य, चन्दन, फलमूल, दधि, क्षीर, घृत, मुद्ग और माष तथा ताम्बूल आदि संग्रहणीय पदार्थ हैं। इज्याकालमें अष्टाङ्गयोग पूर्वक भगवदुपासनाका विधान है। अन्तर्याग, भोगयाग, मध्वादियाग, अन्नयाग, सम्प्रदान, वह्नि-सन्तर्पण, पितृयाग तथा अनुयाग ये ही अष्टाङ्गयाग कहे जाते हैं। इज्याके बाद स्वाध्यायकाल होता है। दिव्य शास्त्र, वेद, मन्त्र, आगम, तन्त्र, तन्त्रान्तर सभी सिद्धान्तोंका निष्ठापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। अन्तिम है—योग-काल। स्वाध्यायके वाद रात्रिके प्रथम प्रहर तक सन्ध्या, जप, होम तथा देवपूजा आदि करके अष्टाङ्गयोगकी साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण समय भगवदुपासनामें लगाया जाता है, क्योंकि भगवदुपासनाके अभावमें एक क्षण भी निन्दित है—

> सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चार्थजडमूकता।
> यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते॥

गरुण पुराण २२२।२२

यद्यपि लक्ष्मीतन्त्र आदि आकर ग्रन्थोंमें शरणागतिका साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-प्रभेदोंका विशद निरूपण किया गया है, किन्तु आकर ग्रन्थ सर्वजन सुलभ नहीं हैं और वे विषय-गाम्भीर्यके कारण अत्यन्त जटिल हैं, इसको ध्यानमें रखते हुए अवकाशके अभावमें जिज्ञासुओंकी सुविधाके लिए यहाँ शरणागतिका दिग्दर्शनमात्र किया गया है। ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो सुखोंको प्रदान करनेवाली शरणागतिका द्वार वर्णाश्रमकी परिधिसे ऊपर उठकर मानवमात्रके लिए उन्मुक्त है। किसी साधन विशेषकी अपेक्षा न रखनेके कारण यह गृहस्थोंके लिए अत्यन्त उपादेय है। विशेषकर आजके युगमें जब मानव ज्ञान एवं कर्मसे रहित होकर अज्ञानान्धकारसे व्याप्त मार्गमें अशान्ति और दुःखके गर्तकी ओर अबाध गतिसे बढ़ रहा है, शरणागतिका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। अतः शरणागति जैसे सुकर, सुलभ, सम्पन्न-साधनके होते हुए इसका आश्रय न लेना आत्मप्रवञ्चना-मात्र है।

●

भगवद्-विश्वास

★

[एक सन्तका प्रसाद]

देखो, तुमसे कोई कहे कि कल सूर्य नहीं उगेगा, परसोंकी बात भी पक्की नहीं कही जा सकती तो तुम्हें उसकी बात सच्ची लगेगी क्या ? तुम तो हंसोगे और यह सोचने लगोगे कि इसका माथा फिरा हुआ दीखता है, यह पागल हो गया है। एक अंधेको भी—जिसने कभी सूर्य नामकी वस्तु नहीं देखी, कभी प्रकाश क्या वस्तु है, यह नहीं जान सका, ऐसे जन्मसे ही अंधेको भी यह बात कही जानेपर वह हँसेगा ही; क्योंकि उसने सुन-सुनकर यह विश्वास कर लिया है कि सूर्य तो उगता ही है और उसके उगनेपर प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होनेपर भी, भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं होनेपर भी भगवान्‌के अस्तित्वमें, भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें सच्चा, सच्चा, सच्चा विश्वास हो जानेपर उस विश्वासको हिला देना—डिगा देना असम्भव, असम्भव है। भगवान्‌के अस्तित्वमें, भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें विश्वास होते ही मन अपने-आप पाप कर्मोंसे हट जाता है, मनमें सत्त्वगुणका प्रकाश बढ़ने लगता है, मनमें कामनाओंकी जो निरन्तर भट्ठी जलती रहती है, वह बुझते देर नहीं लगती, पद-पदपर जो प्रतिकूलताका अनुभव होकर, छोटी-बड़ी कामनाकी पूर्तिमें ठेस लगकर क्रोधकी आग जल उठती है, धधकने लगती है, वह आग शान्त होने लगती है, शान्त होकर ही रहेगी। प्रत्येक बातमें ही हमें असन्तोषका भान होकर हमारी साँस आज जो तेजीसे चलती रहती है, वह स्थिति मिटकर प्रत्येक हालतमें ही हमें सन्तोषका वह सुख अनुभूत होने लगेगा, वह शान्ति मनको परिपूरित किये रहेगी—जिसकी कल्पनातक हमें, अभीतक स्वप्नमें भी, नहीं हो सकी है। ऐसा होता है भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वासका फल। भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें सच्चा विश्वास हो जानेका परिणाम ऐसा ही होता है।

तुम कहोगे कि क्या हमारे मनमें भगवान्‌का सच्चा विश्वास नहीं है ? भगवान्‌की अहैतुकी कृपाको क्या हम नहीं मानते ? तो देखो भैया, वाणीमें अवश्य मानते हो, किन्तु यह मानना बुद्धिके दृढ़ निश्चयमें नहीं मिल सका, मनके अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें समा नहीं सका, इन्द्रियोंमें निर्झरकी कल-कलधाराकी तरह प्रकट नहीं हो सका। यदि ऐसा हो गया होता तो तुम्हारी यह स्थिति हो ही जाती—जिसे ऊपर लिख चुका हूँ।

अब तुम पूछ सकते हो कि फिर इस अवस्थामें क्या किया जाय? इसका उत्तर यह है कि आँख खुलनेसे लेकर रातमें फिर नींद आनेतक तुम जो भी करते हो, उसे करनेसे पहले, किसी भी काममें हाथ डालनेसे पहले मन-ही-मन भगवान्‌की ओर इस भावनासे देख लेनेकी आदत डालो—'हे नाथ, मुझे आपमें, आपकी अहैतुकी कृपामें दृढ़ विश्वास हो जाय।' नहानेवालो, नहानेसे पहले, कपड़ा पहनने चलो, पहननेसे पहले, कोई पाठ-पूजा करने चलो, उसे करनेसे पहले, कलेवा करने चलो, कलेवासे पहले, कलेवाके समय किसीको उत्तर देना हो, उत्तर देनेसे पहले, बच्चोंसे खेलना हो, खेलनेसे पहले, आफिस जाना हो, आफिस जानेसे पहले, मोटरमें चढ़ने चलो, चढ़नेसे पहले, पैदल जाना है, उसमें पहला कदम उठनेसे पहले—सारांश यह है कि यह भावना प्रत्येक क्रियामें एकबार जाग्रत होकर ही रहे, ऐसी आदत डालो। थोड़े ही दिनोंमें—यदि तुमने ऐसी आदत डाल ली तो स्वयं देख लोगे कि तुम्हारा जीवन कैसा पवित्र बन गया है, कितनी तेजोसे तुम परमार्थके पथपर आगे-से-आगे अपने-आप बढ़ते चले जा रहे हो।

●

तम सिंदूर हो जाये

गीत गाता हूँ कि गम कुछ दूर हो जाये!
धार ये आँखें बरसतीं
दृष्टि दर्शन को तरसती
गीत गाता हूँ, सदय वह क्रूर हो जाये!
रात भर पीड़ा संजोता
अश्रु की माला पिरोता
गीत गाता हूँ, अहं यह चूर हो जाये!
आप बीती स्वयं कहता
स्वयं सुनता दर्द सहता
गीत गाता हूँ, मिलन मंजूर हो जाये!
रात यह कटती नहीं है
दूरियाँ घटती नहीं हैं
गीत गाता हूँ कि तम सिंदूर हो जाये!

—परमेश्वर राय, 'राजेश'

आचार्य रजनीश द्वारा दो प्रश्नों के उत्तर—

पाप और धर्म

(शिव)

★

प्रश्न : पाप क्या है ?

उत्तर : मूर्च्छा ही पाप है। वस्तुतः होशपूर्वक कोई भी पाप करना असम्भव है, इसलिए मैं कहता हूँ कि जो परिपूर्ण होशमें भी हो सके, वही पुण्य है और जो मूर्च्छा, बेहोशीके बिना न हो सके वही पाप है।

एक अन्धकारपूर्ण रात्रिमें किसी युवकने एक साधुके झोपड़ेमें प्रवेश किया। उसने जाकर कहा : 'मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ।' साधुने कहा : 'स्वागत है। परमात्माके द्वारपर सदा ही सबका स्वागत है।' वह युवक कुछ हैरान हुआ और बोला : 'लेकिन बहुत त्रुटियाँ हैं मुझमें—मैं बहुत पापी हूँ।' यह सुन साधु हँसने लगा और बोला : 'परमात्मा तुम्हें स्वीकार करता है, तो मैं अस्वीकार करनेवाला कौन हूँ ? मैं भी सब पापोंके साथ तुम्हें स्वीकार करता हूँ।' उस युवकने कहा : 'लेकिन मैं जुआ खेलता हूँ, मैं शराब पीता हूँ, मैं व्यभिचारी हूँ।' वह साधु बोला : 'इन सबसे कोई भेद नहीं पड़ता। लेकिन देखो ! मैंने तुम्हें स्वीकार किया, क्या तुम भी मुझे स्वीकार करोगे ? क्या तुम, जिन्हें पाप कह रहे हो, उन्हें करते समय कम-से-कम इतना ध्यान रखोगे कि मेरी उपस्थितिमें उन्हें न करो। मैं इतनी तो आशा कर ही सकता हूँ ?' उस युवक ने आश्वासन दिया। गुरुका इतना आदर तो स्वाभाविक ही था। लेकिन कुछ दिनों बाद जब वह लौटा और उसके गुरुने पूछा कि तुम्हारे उन पापोंका क्या हाल है तो वह हँसने लगा और बोला : 'मैं जैसे ही उनकी मूर्च्छामें पड़ता हूँ कि आपकी आँखें सामने आ जाती हैं और मैं जाग जाता हूँ। आपकी उपस्थिति मुझे जगा देती है और जागते हुए तो गड्ढोंमें गिरना असम्भव है।

मेरे देखे पाप और पुण्य मात्र कृत्य ही नहीं हैं। वस्तुतः तो वे हमारे अन्तःकरणके सोये होने या जागे होनेकी रचनाएँ हैं। जो सीधे पापोंसे लड़ता है, या पुण्य करना चाहता है, वह भूलमें है। सवाल कुछ करने या न करनेका नहीं है। सवाल तो भीतर कुछ होने या न होनेका है। और यदि भीतर जागरण है, होश है, स्व-बोध है, तो ही तुम हो,

अन्यथा घरके मालिकके सोये होनेपर जैसे चोरोंको सुविधा होती है, वैसी ही सुविधा पापोंको भी है।

प्रश्न : धर्म क्या है ?

उत्तर : धर्म मनुष्यके प्रभुमें जन्मकी कला है। मनुष्यमें आत्म-ध्वंस और आत्म-सृजन दोनोंकी ही शक्तियाँ हैं। वह अपना विनाश और विकास दोनों ही कर सकता है। और इन दोनों विकल्पोंमेंसे कोई भी चुननेको वह स्वतन्त्र है। यहीं उसका स्वयंके प्रति उत्तरदायित्व है। उसका अपने प्रति प्रेम, विश्वके प्रति उसके प्रेमका उद्भव है। वह जितना स्वयंको प्रेम कर सकेगा, उतना ही उसके आत्मघातका मार्ग बन्द होता है। और जो जो उसके लिए आत्मघाती हैं, वही-वही ही औरोंके लिए अधर्म है। स्वयंकी सत्ता और उसकी सम्भावनाओंके विकासके प्रति प्रेमका अभाव ही पाप बन जाता है। इस भाँति पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, धर्म और अधर्मका स्रोत उसके भीतर ही विद्यमान है। परमात्मामें या किसी अन्य लोकमें नहीं। इस सत्यकी तीव्र और गहरी अनुभूति ही परिवर्तन लाती है और उस उत्तर-दायित्वके प्रति हमें सजग करती है जो कि मनुष्य होनेमें अन्तर्निहित है। तब जीवनमात्र जीना नहीं रह जाता। उसमें उदात्त तत्त्वोंका प्रवेश हो जाता है। और हम स्वयंको सतत सृजन करनेमें लग जाते हैं। जो इस बोधको पा लेते हैं, वे प्रतिक्षण स्वयंको ऊर्ध्वसे ऊर्ध्व लोकमें जन्म देते रहते हैं। इस सतत सृजनसे ही जीवनका सौन्दर्य उपलब्ध होता है और प्राणोंको वह लय और छन्द मिलता है जो कि क्रमशः घाटियोंके अन्धकार और कुहासेसे ऊपर उठकर हमारी हृदयकी आँखोंको सूर्यके दर्शनमें समर्थ बनाता है।

जीवन एक कला है और मनुष्य अपने जीवनका कलाकार भी है और कलाका उपकरण भी। जो जैसा अपनेको बनाता है, वैसा ही अपनेको पाता है। स्मरण रहे कि मनुष्य बना बनाया पैदा नहीं होता। जन्मसे तो हम अनगढ़े पत्थरोंकी भाँति ही पैदा होते हैं, फिर जो कुरूप या सुन्दर मूर्तियाँ बनती हैं, उनके स्रष्टा हम ही होते हैं।'

मित्रको संकटसे उबारो

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़ कर क्लेश उठानेवाले मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझा कर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं। जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़ कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है।

[महाभारत, उद्योगपर्व]

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा

श्रीकरुणापति त्रिपाठी

★

जगन्माता पार्वतीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए योगिराज भगवान् शंकरने रामचरित मानस में कहा है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥

इस युक्ति द्वारा परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासने महादेवजीके माध्यमसे घोषित किया है कि 'निर्गुण या अगुण और संगुण ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है। वे दोनों तत्त्वतः एक हैं। उनका भेद पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं है।' इस मान्यताका अनेक बार समर्थन हुआ है। ज्ञानी मुनियोंने, पुराणोंने, दर्शन-रहस्यवेत्ता बुधोंने और उपनिषदोंने (उपनिषदोंकी सारभूता गीताने) उक्त सिद्धान्तका बारंबार प्रतिपादन किया है। अतः गोस्वामीजीके उक्त कथनका महत्त्व तात्त्विक है। उक्त तथ्यका प्रकाशन हुआ है—देवाधिदेव महादेवके द्वारा। महादेवजी परम ज्ञानी हैं—ज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ ऐसे ज्ञानी हैं जिन्हें समग्र अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों और सूक्ष्म-स्थूल, दृश्यादृश्य संपूर्ण प्रमेय पदार्थका हस्तामलकवत् सर्वदा, त्रिकालमें पूर्ण भान होता रहता है। वे ऐसे ज्ञानी हैं जिन्हें त्रिकालमें अद्वैत ब्रह्मका अखंड भान होता रहता है। पर इसीके साथ-साथ वे महायोगी भी हैं, योगिसम्राट् हैं—ऐसे योगी हैं जैसा आजतक कोई न हुआ है और न होगा। जब रामकी परीक्षाके हेतु जाकर सतीने सीताका रूप धारण कर लिया तब शंकरने मनही मन प्रण किया कि 'अब सतीके इस जन्ममें सतीरूपधारी दक्षसुताके साथ दाम्पत्य-संबंध नहीं रह सकता—क्योंकि सतीके प्रति पत्नीभाव रखने पर भक्ति-मार्गका लोप हो जायगा'—

जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगतिपथ होइ अनीती॥

अतः शिवने मन-ही-मन संकल्प कर लिया—

एहि तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माही॥

और फिर परिस्थितिजन्य मानसक्षोभको दूर करनेके निमित्त उन्होंने सहज समाधि लगा ली—

तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥
संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

भगवान् शंकरने अपने सहज और निर्विकार रूपको सम्हाल लिया। उनकी अखंड, अपार समाधि लग गयी। उस समाधिके सहजानंदमें निमग्न होकर वे मधुमती भूमिकामें जा पहुँचे।

भूमाके, परम महत्‌के सच्चिन्मय सहजानंदमें वे मग्न हो गये । उनकी यह निर्विकल्पक सहज समाधि हजारों वर्षों तक एकरस, एकरूप चलती रही, सत्तासी हजार वर्ष बीत गये—

बीते संवत सहस सतासी । तजी समाधि संभु अबिनासी ॥
रामनाम सुमिरन तब लागे । जानेउ सती जगतपति जागे ॥

समाधिकी दशा अलौकिक दशाका ज्यों ही उन्होंने त्याग किया और लौकिक स्थितिमें लौटे त्यों ही रामनामका स्मरण करने लगे ।

इस प्रसंगके यहाँ उल्लेखसे यह दिखाना मात्र है कि शंकर भगवान् परम ज्ञानी और परमोच्चयोगी होनेके साथ-साथ भगवान्‌के सबसे बड़े भक्त भी हैं । अपने ज्ञानपंथकी प्रक्रियामें वे निर्गुण, निराकार, निरंजन, परब्रह्मका ज्ञान रखते हैं । योगकी सहज समाधिमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, अनुभविता, अनुभावक और अनुभूतिके भेदका विलय करके सच्चिदानंद, निर्गुण, अद्वयके आनन्दमय अनुभूति-सागरमें निमग्न रहते हैं; परंतु भक्तिकी प्रेमानुभूतिके परम रसिक होनेके कारण भगवान्‌की अनन्य, अद्वैतकी भक्तिका रसास्वादन करते हुए वे सगुणोपासकोंमें सर्वाग्रणी भी रहते हैं । इसीलिए जगदंबा पार्वतीने उन्हें कहा है :—

प्रभु समरथ सर्वज्ञ सिव, सकलकला गुन धाम ।
जोग, ज्ञान, वैराग्य निधि, प्रनत कलपतरु नाम ॥

वे सबसे बड़े ज्ञानी, सर्वज्ञ, सबसे बड़े योगी और विरागी हैं । फिर भी 'रामभगति'के सबसे बड़े रसिक हैं, रामके सबसे बड़े भक्त हैं ! इसी भक्तिरसका सेवक-सेव्यभावकी भक्तिका अनंत और साक्षात् आस्वादन करनेके लिए परम विरागी शिवने हनुमान्‌का अवतार लिया और भगवान् रामकी अहैतुकी सेव्य-सेवक-भक्तिका सर्वोच्च प्रतिमान प्रतिष्ठित किया ।

इसी प्रसंगमें महादेवने कहा है—

जिन्हके अगुन न सगुन बिवेका । जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥

अर्थात् तत्त्वतः अगुण और सगुणमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है । भक्तिपथसे जो चरम लक्ष्य होता है—वही सगुण है और ज्ञान मार्गसे जो ज्ञेय है वही निर्गुण है । उसीको **'एक अनीह अरूप अनामा । अज, सच्चिदानन्द परधामा ॥'** कहा गया है । वह 'दारुगत पावक है और सगुण प्रत्यक्ष अनल' एक है—

एक दारुगत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥

निखिल ब्रह्माण्ड प्रपंचके भीतर पारमार्थिकरूप जो एक अद्वैत सच्चिदानन्द तत्त्व परिव्याप्त है, भीतर-बाहरसे सब कुछको अपने क्रोड़में जिसने ले रखा है, स्वयं अलक्ष्य, अगोचर और गुणातीत है, वही अव्यक्त परमतत्त्व अगुण ब्रह्म है । वही भक्तोंकी भक्तिके वशीभूत होकर सगुणरूपसे राम और कृष्ण आदिके रूपमें अवतार लेकर लीलानन्दका भक्तोंको रसास्वादन कराता है ।

यहाँ यह सब कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि भक्तिका प्रतिपाद्य ब्रह्म भी निर्गुणा-भिन्न है। इतना ही नहीं पूर्ण परिनिष्ठित भक्तिके अन्तर्गत ज्ञान और योग—उभयमार्ग अंतर्निविष्ट हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—पूर्ण भक्तिके लेशमात्रसे ज्ञान और वैराग्य स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥ [१।२।७]

इसका तात्पर्य यह है कि साध्यरूपा अहैतुकी भक्तिसे भक्तका हृदय भगवन्मय हो जाता है—भक्तिरसकी साधारणीकृत आस्वादन-दशामें भक्तकी बुद्धि, मन, अहंकार आदि सभी रस-प्रवाहमें विलीन हो जाते हैं। भजनीय आलम्बनरूप भगवान् कृष्णके आनन्दरूपसे भक्तका भीतर-बाहर सब कुछ तन्मय, आनन्दमय, रसमय, उपास्यमय हो जाता है। उपास्य, उपासना और उपासकके मध्य भेदबोधका पूर्ण लोप हो जानेसे भक्तका भगवान्के साथ, उपास्यका उपासनानन्द और उपासकके साथ तादात्म्य हो जाता है। उसकी आत्माका भगवदात्मासे एकता स्थापित हो जाती है। भगवान्के सच्चिदानन्दमय परमार्थरूपके साथ उसकी आत्मा मिलकर एकाकार हो जाती है। इसी कारण उसे परमात्माका अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह अनुभवात्मक ज्ञान ज्ञानमार्गियोंके ज्ञानाश्रित अद्वैतबोधकी अपेक्षा दृढ़तर और स्थायितर हो जाता है। ज्ञानद्वारा जिस अद्वयबुद्धिकी ज्ञानी साधना करता है वह अनन्त एकात्मबोध—भक्तिरसास्वादकी चरमकाष्ठामें प्रविष्ट भक्तको अनायास ही सुलभ हो जाता है। आचार्य रूपगोस्वामीने भक्तिरसामृत-सिन्धुमें इसी कारण कहा है—

परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः।
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति॥ [द०।५।९३]

अर्थात् भक्तोंकी भक्तिरसानुभूति या मधुरसानुभूति तत्त्वतः परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी अनुभूतिसे नितान्त अभिन्न है और इसी कारण वह प्रकाश भी है, और अखंड भी है।

ज्ञानप्रतिपाद्य ब्रह्मसे अभिन्न होनेके साथ-साथ भजनीय भगवान्—योग मार्गसे प्रतिपाद्य ब्रह्मसे भी अभिन्न है। यम-नियमादिके मार्गसे चलकर सविकल्पकसे आगे बढ़कर निर्विकल्पक समाधिस्थ योगी जिस सच्चिन्मय अनन्त आनन्दरूप परमात्मका साक्षात्कार करता है और आनन्द सागरमें भूमाके अनन्त आनन्दमय ह्रदमें डूबा रहता है (यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये)—उस अलौकिक, दिव्य, पारमार्थिक शाश्वत आनन्दकी उपलब्धि तो भक्तको स्वतः और अनायास सुलभ रहती है। अतः भक्तिमार्ग भी तात्त्विक दृष्टि—ज्ञान और योगमार्गोंका समन्वित रूप ही है।

इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीताका चरम प्रतिपाद्य यही भक्तिमार्ग है जिसमें ज्ञानयोग, बुद्धियोग सांख्ययोग और कर्मयोग—आदि सबका अन्तर्भाव है। भगवान्ने कहा है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ [१०।७-११]

[मेरी इन पूर्वोक्त विभूतियों और योगोंको जो यथार्थतः जान पानेमें समर्थ होता है—निश्चय ही वह योगसे युक्त हो जाता है। क्योंकि मैं ही सब कुछका उत्पत्ति-स्रोत हूँ। मुझसे निखिल चराचर एवं दृश्यादृश्य ब्रह्माण्ड-प्रपंच प्रवर्त्तित होता रहता है। पूर्णतः ऐसा जानते-मानते, समझते और अनुभव करते हुए भक्तिभावसे पुष्ट ज्ञानी बुधजन मेरा भजन करते हैं—मेरी भक्तिमयी उपासनामें लीन रहते हैं। उनका चित्त मुझमें ही लगा रहता है उनके प्राण भी मुझमें बसते हैं, वे परस्पर इसी प्रकारकी बोधानुभूति करते रहते हैं, मेरे ही गुणकथन, गुणानुवादनमें व्यग्र रहते हैं। वे सदा संतुष्ट रहते हैं, अपने ही भक्तिभाव में रमण करते रहते हैं। भावमयी निष्ठाके साथ प्रीतिपूर्वक सततयुक्त भजन करनेवाले उन भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके बलसे वे मुझ तक पहुँच जाते हैं। अनन्तगुणमंडित और असंख्यवैभवशाली विराट् ब्रह्मका साक्षात् करने लगते हैं। उन सततयुक्त निष्ठावान् अहैतुक भक्तों पर अनुकम्पा करनेकी कामनासे मैं (श्रीकृष्णरूप परब्रह्म) आत्मभावस्थ रहते हुए भी भक्तोंके अज्ञानजन्य तमस्को भास्वर ज्ञानके आलोकसे पूर्णतः नष्ट कर देता हूँ।]

यहाँ यह बताया गया है कि सच्चे भक्तकी भक्तिसे अनुकम्पमान होकर, द्रवित होकर, अनुग्राहक होकर स्वयमेव परमात्मा भक्तोंके हृदयमें ज्ञानकी ऐसी ज्योति जला देता है जो ज्ञानियोंकी ज्ञानज्योतिसे भी अधिक भास्वर और दृढ़ होती है।

भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि योगी—तपस्वियोंसे बड़ा है, ज्ञानियोंसे भी बड़ा है और कर्ममार्गियोंसे भी बड़ा है। परन्तु सबसे बड़ा वह योगी है (या अन्य शब्दोंमें भक्तियोगी अथवा योगी भक्त है) जो अपनी समग्र चित्तवृत्तियोंको, अन्तरात्माको मुझमें लीन करके श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता रहता है। मेरे मतसे वह युक्ततम है—सबसे बड़ा योगी है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

[६।४६, ४७]

श्रीमद्भगवद्गीतामें बार-बार इस भक्तिकी महिमा बतायी गयी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

[९।३४]

[अपनी समग्र मनोवृत्तिको भगवान् कृष्णमें विलीन कर दो। भगवद्भक्त हो जाओ। भगवान्के ही उद्देश्यको लेकर यजनादि करो, उन्हींको प्रणमन करो। इस प्रकार अपने को भगवान्में लगानेसे, प्रपत्तिपूर्वक भगवान् की शरण लेनेसे भक्त अपने उपास्यतक पहुँच जाता है।]

ज्ञानयोग, सांख्ययोग, बुद्धियोग आदि का भगवान् कृष्णने अर्जुनको जितना कुछ भी उपदेश किया वह सब भक्तके ऊपर अनुग्रहके कारण ही किया—परम गुह्य, अध्यात्मसंज्ञित और मोहापहारी जो वचन भगवान्के द्वारा कहा गया, वह अपने प्रिय भक्त अर्जुनको अनुग्रह-भाजन बनानेके निमित्त [११।१]। भगवान्के विराड्रूपका जो अर्जुनको दर्शन हुआ और तदर्थ दिव्य लोचनोंकी जो प्राप्ति हुई वह भी भक्तानुग्रहार्थ ही हुई। इसी कारण श्रीकृष्णने ११वें अध्यायमें कहा है—"वेदों-उपनिषदोंसे (उनके ज्ञानसे), तपस्यासे या दान, यज्ञ आदिसे मेरे इस विराड्रूपका इस प्रकार दर्शन किसीको प्राप्त नहीं होता जो तुम्हें आज सुलभ हुआ है। वे आगे कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

[११।५३]

अर्थात् अनन्य भक्ति द्वारा ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, आत्माकी एकताका, सत्य-विज्ञानमय अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक, असंख्यगुण-गणोपेत, निर्गुण, निराकार विराड्ब्रह्मका दर्शन हो सकता है और साथ ही अगुण-सगुणके रहस्यसागरमें गहराईके साथ प्रविष्ट होकर अनन्यभावका भक्त मुक्तानन्द प्राप्त करता है।

इसी कारण १८वें अध्यायमें श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

[१८।५५]

अर्थात् भगवान्का तत्त्वज्ञान बिना भक्तिभावके नहीं होता। उसके तात्त्विक रूपको भक्तिद्वारा ही पहचाना जाता है और उस पहिचानके हो जाने पर मुक्ति मिल जाती है।

श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, पद्मपुराण आदिमें इस तथ्यका बारंबार प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए—भक्तिकी इसी सर्वयोगग्राहकताके कारण, ज्ञान-योगादि-संग्राहकताके कारण कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
[श्रीमद्भा० १।७।१०]

कहा गया है कि आश्चर्यमयी सिद्धियाँ, मुक्ति और शाश्वती मुक्ति भी, परमानन्दप्राप्ति भी, गोविन्दभक्तिसे प्राप्त होती है :—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः॥

भुक्ति, मुक्ति आदि—सभी भक्तिकी दासियाँ हैं—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा भुक्त्यादिसिद्धयः।
मुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

जहाँ-जहाँ आगे-आगे भक्ति चलती है वहाँ-वहाँ संसारकी समस्त भोगविभूतियाँ ही नहीं, मुक्ति भी भक्तिकी सेवा करती हुई उसका अनुगमन करती रहती है। इसी कारण भक्तिरसामृत-सिन्धुमें कहा गया है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥ [१।१९]

[ब्रह्मानन्दका सुख यदि असंख्यगुना बढ़ जाय तो भी भक्तिसुखसागरके एक परमाणुकी भी बराबरी वह नहीं कर सकता !]

यह सब तो प्रसंगवश कही हुई बातें हैं। यहाँ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—इतना ही कथ्य है कि ज्ञानयोग जिस कक्षामें पहुँचकर अद्वैतबुद्धिके उत्पादन द्वारा मुक्तिप्रद होता है, वह ज्ञानलाभ और ब्रह्मसाक्षात्कारक योगमार्गकी चित्तैकाग्रता, तन्मयता, समाधिरूपता तथा विषयविरक्ति, कर्मयोग और कर्मसंन्यास सभी कुछ अहैतुक साध्या भक्तिके उपासकको स्वयं, अनायास ही सुलभ हो जाते हैं।

अतः ज्ञानियोंका निर्गुण, निराकार ब्रह्म और भक्तोंका साकार, गुणारत्नाकर अनंत-सौंदर्य-विभूति-शक्ति-मंडित, अनंत-गुणविभूषित सगुण ब्रह्म एक है, उनमें कोई भी तात्त्विक भेद नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतमें यह आदिसे अन्ततक प्रतिपादित है और उसी के अनुसार भक्त शिरोमणि गोस्वामीजी भी अगुण और सगुण ब्रह्ममें तात्त्विक भेद नहीं मानते। उन्होंने 'मानस'में आदिसे अन्ततक अनेकवार इस प्रसंगका प्रतिपादन किया है। निश्चय ही यह दृष्टि गीतासार है—भागवतप्रतिपादित है और इसीलिए आज भी हमारे लिए अनुसरणीय है।

●

भागवतके श्रीकृष्ण

श्री वैदेहीशरण शास्त्री

★

पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ता विद्वानोंने भारतीय साहित्यपर बहुत बड़ी सामग्री प्रस्तुत की है। इनमें मैक्समूलर, कीथ, विलियमजोन्स, पार्जिटर, पिटर्सन प्रभृति विद्वानोंका प्रमुख स्थान रहा। वेदपर इन विद्वानोंके गहन अध्ययनकी सामग्री उपलब्ध होती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं माना जायगा कि 'अंग्रेज विद्वानोंने यद्यपि भारतीय साहित्यके प्रति भारतीयोंको भ्रमपूर्ण विचारोंसे ओत-प्रोत रखा, पर अपनी संस्कृति और सभ्यताके अनुसन्धान करनेकी ओर अर्वाचीन विचारोंको इन लोगोंने ही अग्रसर किया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे विचार करनेपर श्रीकृष्ण-सम्बन्धी उपाख्यानों, वैदिक मन्त्रोंमें वर्णित विविध वृत्तोंसे पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार भारतमें श्रीकृष्ण एक नहीं अनेक हो गये हैं। वेदके श्रीकृष्ण पुराणोंके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं और पुराणोंके श्रीकृष्ण तन्त्रागमोंके श्रीकृष्णसे भिन्न हैं। इस प्रकार परम्परागत ऐतिहासिक तथ्योंके अवलोकनसे श्रीकृष्णके अनेक रूप दृष्टि-गोचर होते हैं। लगभग दो-तीन वर्ष पूर्व मध्य प्रदेशकी पत्रिका 'रेवा' में इस सन्दर्भको एक विद्वान् लेखककी रचना श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकता शीर्षकसे प्रकाशित हुई थी। जिसमें उन्होंने इस विषयपर सारगर्भित विचार प्रस्तुत किया था।

वस्तुतः विचार किया जाय तो उपर्युक्त जितनी भी श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अनेकतापूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मिलती है उसमें पारस्परिक एकता अवश्य उपलब्ध होगी। भारतीय मनीषियोंने एक ही श्रीकृष्णके चरित्रको अनेक आगमों (तन्त्रों), पौराणिक कथाओं और काव्य-ग्रन्थोंमें, विविध रस-भावानुसारी आख्यानोंमें निबद्ध किया। श्रीमद्भागवत महापुराण सम्पूर्ण श्रीकृष्णसम्बन्धी आख्यानोंका सारभूत संग्रह है। इसमें उपासनाकी दृष्टिसे तथा साहित्य-रसान्वेषणकी दृष्टिसे पिपासु पग-पगपर आनन्द महोदधिमें निमग्नताका यथेष्ट अनुभव करता है। श्रीकृष्णके विविध रूपोंका वर्णन करते हुए भागवतकारने इनका छः सात स्वरूपोंमें उल्लेख किया है जो सम्भवतः विद्वानोंकी दृष्टिमें विभिन्नताका मूलमन्त्र बना हुआ है। भागवतमें एक ही श्रीकृष्णको श्रियः पति, धरापति, यज्ञपति और लोकपति कहा गया है तथा इसीके साथ अन्धक, वृष्णि, यदु आदिके शासकोंमें भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है—

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पति ॥"

(भागवत १ स्कन्ध)

शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन-संहिताके दूसरे अध्यायमें 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा' (य० वे० २।१) तथा 'कृष्णं वेद वर्हिर्षि' इसी प्रकार ऋग्वेदमें भी लगभग ८-१० स्थलोंपर श्रीकृष्णके उल्लेख मिलते हैं जिससे अनेकताका आभास प्रतीत होता है। दशम स्कन्ध भागवतमें श्रीकृष्णजन्मोपाख्यानमें देवकीने स्तुति करते हुए कहा है—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥

इसी प्रकार ब्रह्मस्तुति, इद्रस्तुति आदिके प्रसंगोंमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अधिपति तथा भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण कर जगत्के कल्याणके लिए अवतरित होनेका उल्लेख प्राप्त होता है। श्रीधर स्वामीने श्रीकृष्णके इन विविध रूपोंपर अपने विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट संकेत किया है। उन्हें साक्षात् परमात्मरूप ही माना है। इसी प्रकार अन्य भाष्यकारोंने भी श्रीकृष्णके विविधतामय रूपोंमें उन्हें परमात्माका ही स्वरूप स्वीकार किया है।

तन्त्रादि आगम-ग्रन्थोंमें विशेषतः सकामोपासनाकी ही प्रणाली परिलक्षित होती है। इनमें एक ही देवताकी विविध युक्तियोंसे उपासना करनेसे विभिन्न मानवीय (शुभ) आकांक्षाओंकी पूर्ति होती है, ऐसा संकेत मिलता है। अतः इनमें एक ही रूपको (कामनानुसार) अनेक रूपमें परिवर्तितकर उपासना करनेके विधानसे उस देवताको ऐतिहासिक रूप दे देना उचित प्रतीत नहीं होता।

यह भारतवासियोंका दुर्भाग्य रहा है कि यहांके प्राचीनतम अमूल्य ग्रन्थ (साहित्य) कालक्रमसे कवलित हो गये और यहांकी संस्कृति एवं सभ्यताके वास्तविक स्रोतका अस्तित्व प्रदान करनेवाले साहित्योंका यत्किञ्चित् संग्रह मात्र सुरक्षित भी रहा तो भारतसे सुदूर प्रदेश (इण्डियालाइब्रेरी लंदन) में। न तो हम उसे ले सकते है न किसी प्रकार उसपर अपना अस्तित्व ही घोषित कर सकते हैं। इसी प्रकार कुछ अनुसन्धानपरक कार्य भी हुआ तो पाश्चात्य विद्वानोंके ही द्वारा, जिन्होंने हमारे प्राचीनतम संस्कृति एवं सभ्यताको भ्रमपूर्ण विचारोंसे ओत-प्रोत कर दिया। ऐसे ही साहित्यका हम अध्ययन बड़े चावसे करते हैं और अपनी ही संस्कृति एवं सभ्यताके उपहाससे नहीं अघाते। अतः इस रचनाके माध्यमसे क्या हम पाठकोंसे आशा रख सकते हैं कि जिस साहित्यको पढ़कर हम अपनी संस्कृतिका उपहास करते हैं उसपर कभी गम्भीर मनन द्वारा ऐसा भी सोचनेका प्रयत्न करेंगे कि 'क्या यह उचित है ?'

●

कामना

(कवीन्द्र, रवीन्द्रकी 'जन्मान्तर' कविताका भावानुवाद)

अनु० डॉ० श्री भगवानसहाय पचौरी एम० ए०, पी-एच० डी०

कहा भयौ जो जनम विलायत में नहिं पायौ,
कहा भयो नवयुग सम्राट् नहीं कहवायौ।
सम्राटन कौ प्रेम पात्र हू बन न सकौ मैं,
खिलअत तोफा जागीरन छू छूवै न सकौ मैं॥
पर एक जिद्दी संतोष है भारत में पैदा भयौ।
जहँ धरनी भार उतारिबे जनम कन्हैयाने लयौ॥१॥

कोटि जनम कौ पुन्य लाभ मैं वा दिन चीन्हौ,
व्रज - मंडलमें जनम ईसने जा दिन दीन्हौ।
अब तौ चाहूँ नहीं देस-सम्राट बनूँ मैं,
नई सभ्यता कौ आलोक विराट बनूँ मैं॥
जनम देहु जो दूसरौ हे प्रभु जगदाधार हे।
तौ ग्वाल बाल व्रज कौ करौ व्रजरज सेवनहार हे॥२॥

मैंने तुमसों कब माँगौ धन वैभव जग कौ,
माँगि रह्यौ मैं व्रजकी माटी बसिबौ व्रजकौ।
माँगि रह्यौ मैं कदम करील कुंज वन बनके,
गोबरधन, बरसाने, गोकुल वृन्दावनके॥
मैं माँगू हूँ जमुना छटा वंसीवट तरु पुन्य जल,
जहँ धेनु चरावत कृष्ण हैं गुंजा फूलन माल गल।३॥

वंसीवटके तरें ग्वाल - गोपिन कौ फिरिबौ,
नाना भाँतिन रंग रास उल्लास बिखिरिबौ।
नित्य भोर ते साँझ तलक वंसी धुनि सुनिबौ,
जीवनभर गुनगान नंद - नंदन कौ गुनिबौ॥
हैं ग्वाल - बाल मौजी जहाँ तहाँ जनम दीजै प्रभो,
वरु या जीवन कौ सब कछू खुसी खुसी लीजै प्रभो॥४॥

राधा कृष्ण विलास रास रस कौ आकर्षन,
राधाकी उत मुरनि कान्ह कौ मान प्रदर्सन।
जमुना कूले नित्य प्रात पनघट घट भरिबौ,
उतै स्याम कौ साँझ सकारे खटपट करिबौ॥
जहँ घट उठाइकें सीस पै कान्हा राधाके धरै,
तहँ देहु जनम मोहि दूसरौ जहाँ प्रेम कन कन झरै॥५॥

कुंज करीलन बीच वाल फरिया कौ फँसिबौ,
सुरझावनि, उरझावनि हँसिबौ, हँसिके रिसिबौ।
मान मनौवल, वूझ वुझौवल छन छन करिबौ,
मधुरे मधुरे बोल प्रेम कन कनमें भरिबौ।
जहँ मधुर रहसि-रस-रासमें मुक्ति ईश्वरी परगटै,
तहँ देहु जनम मोहि दूसरौ जहाँ-जीवका तम घटै॥६॥

जहाँ खेलही खेल कंस चांडूर पछारे,
काली-अघ-वक-वत्स-धेनुकासुर संहारे।
चकित-थकित जहँ बुद्धि चमत्कारनमें खोई,
नेति नेति मरजाद जहाँ, कन कनमें सोई॥
सुभ पेसी धरती है जहाँ जहाँ मुक्तिमय गगन है,
तहँ देहु जनम मोहि दूसरौ जहँ अणु अणु रस मगन है॥७॥

आँगन भरि भरि नाँच ढोल ढप-ताल-खंजरी,
झाँझ पखावज, मृदु मृदंग मंजीर मंजरी।
दूधनु कुल्ला, लौनी धौनी प्रात कलेवा,
दही रहो सो वहो वही ब्रजनंदन सेवा॥
जहँ भौन भौन गोरस वह्यौ, वह मग मोकों देहु प्रभु।
सब संस्कृति सुविधा सभ्यता संपति वदले लेहु प्रभु॥८॥

जहँ कोपे सुरराज प्रलय जल बरसन लागे,
गोप-ग्वाल भयभीत धेनु बछरा सब भागे।
भई दिना की राति सृष्टि सब काँपन लागी,
ब्रज वसुंधरा प्रलय ज्वारमें हाँपन लागी॥
जह जनरंजन गोपालने अँगुरी पै परवत धर्यो,
तहँ देहु जनम मोहि दूसरौ जहाँ इन्द्र कौमद हर्यो॥९॥

नाँहि अंधेरे देस सभ्यता लोक बसाऊँ,
नाँहि वंगमें नवयुग कौ विस्तार बढ़ाऊँ।
माखन छैना मिलै छाँड़ि दूँ मैं अमिरत हूँ,
मिलै बबूर करील छाँड़ि दू कल्प-वृक्ष हूँ॥
जो औसर पाऊँ वर मिलै तौ मेरी है कामना,
मोहि देहु जनम ब्रजभूमिमें होइ सफल सब कामना॥१०॥

कालिन्दीको नीलौ जल सीतल सुखकारी,
ब्रज जन जामें कूदि-कूदि स्रम खोवत भारी।
धनि हैं वे जे जमुना कूलन धेनु चरामें,
कारी धौरी लाल धूमरी टेरि बुलामें॥
उठि भयौ सवेरौ जागि अब, कहि-कहि मीठे टेरते,
प्रभु, देहु जनम तहँ दूसरौ जहाँ स्याम गौ घेरते॥११॥

ब्रजके वे मैदान धूरि धूसर प्रसस्त सर,
रेनु उड़ावत धेनु खुरन सों खुरचत पतझर।
तरु तमालकी माल स्यामताकी सघनाई,
सामनमें जहँ मेघ घटा स्यामा घिरि आई॥
उन कालिन्दी कूलन विषै साँझ अँधेरौ फेरती,
प्रभु देहु जनम तहँ दूसरौ जहाँ जसोदा टेरती॥१२॥

घाट अँधेरौ घिरौ कामिनी काँपन लागी,
आर पारकी नाव भँमरमें छाँपन लागी।
कारे धौरे लाल कसूमी बादर जागे,
कुंजन केकी कूकि हूकि डरपावन लागे॥
जहँ रपटी राधा-सीश ते जल गगरी भैराइके,
तहँ देहु जनम मोहि यदुपते करुना नेक दिखाइके॥
जहँ कदमनकी डार नागरी झूला झूलें,
रंग विरंगी डोरि डार-डारनमें हूलें।

जहँ वंसी रव गूँज गगनमें रोर मचामें,
जहँ पूनौंकी रैनि कन्हैया रास रचामें॥
जहं महारास कान्हा रचें, चन्द्र थकैं रजनी रुकै,
तहँ जनम देहु करुनापते, जहाँ गगन कदमन झुकै॥

●

समीक्षात्मक दृष्टिमें

श्रीकृष्ण-चरित्र

डॉ० श्री मालारविन्दम् चतुर्वेदी

समूचे भारतीय-साहित्यमें ही नहीं वरन् समूचे विश्व-साहित्यमें भगवान् श्री कृष्णके चरित्रका कोई अन्य प्रतिमान नहीं खोजा जा सकता। अनेक प्राचीन एवं नवीन भारतीय भाषाओंके विराट् साहित्यके जिस विशाल अंशमें इस चरित्रका पल्लवन विविध ऋषियों, मुनियों, कवियों, मनीषियों, दार्शनिकों तथा भक्तोंद्वारा हुआ है, उसकी एकत्र परिकल्पना अपने आपमें एक साधना है, जिसकी सिद्धि भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात्कारके समान ही परम काम्य तथा बुद्धया संभोग्य प्रतीत होता है।

भारतीय-साहित्यमें श्रीकृष्ण-चरित्रकी व्याप्ति आद्यन्त कही जा सकती है। यद्यपि श्रीराम-चरित्रके समान श्रीकृष्ण-चरित्र वर्तमान भारतकी सीमाओंका उल्लंघनकर अन्य देशोंमें नहीं गया है, परन्तु भारतीय-साहित्यमें कृष्ण-चरित्र राम-चरित्रकी अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण, कलात्मक, तात्त्विक तथा जन-प्रिय है। अतः भारतीय साहित्यमें चित्रित चरित्रोंमें श्रीकृष्ण-चरित्र एक अद्वितीय चरित्र है। आशय यह कि श्रीकृष्ण-चरित्रके समानान्तर कोई अन्य चरित्र भारतीय-साहित्यमें नहीं है, जो इतना गतिशील, सुन्दर, प्राचीन, पर आज भी जीवित हो और भारतीय जन-जीवनके सभी स्तरोंका स्पर्श करता हो। युगे-युगे नवीन अभिव्यंजनाओं तथा व्याख्याओंकी सम्भावनाएँ जितनी श्रीकृष्ण-चरित्रमें हैं, उतनी अन्य किसी चरित्रमें नहीं। इसीलिए तो महाभारतके पश्चात् यह चरित्र निरन्तर रूप और अर्थकी दृष्टियोंसे विकसित होता गया है। आशय यह है कि भारतीय संस्कृतिके विकासके साथ-साथ श्रीकृष्ण-चरित्रका न केवल स्वरूप ही बदलता गया है, वरन् चरित्रका मूल तात्पर्य भी बदलता गया है। परन्तु विशेषता यह है कि चरित्रके स्वरूप तथा आशयके निरन्तर-परिवर्तनमें कहीं भी अनौचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता, विकास सहज है तथा ऐतिहासिक क्रममें है। भारतीय संस्कृतिके विकासके समानान्तर सतत विकसनशील रह सकनेके कारण ही श्रीकृष्ण-चरित्रको विश्व-साहित्यमें अद्वितीय कहा जा सकता है। जीसस-क्राइस्टके चरित्रको आज विश्वका सर्वाधिक ज्ञात, समादृत तथा बहुजन द्वारा पूज्य चरित्र कहा जा सकता है। परन्तु कृष्ण-चरित्रकी तुलनामें क्राइस्टके चरित्रको न अधिक सुन्दर कहा जा सकता है और

न ही वह इतना गतिशील, प्राचीन तथा जीवित चरित्र है, जितना कृष्णका है। वस्तुतः विकास तथा अर्थकी अनन्त सम्भावनाएँ कृष्ण-चरित्रकी मौलिक कल्पनाकी ही एक विचित्र विशेषता है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय-साहित्यमें कृष्ण-चरित्रकी बहुरूपी कल्पना निरन्तर विकसित होती गयी है और होती जायगी।

भारतीय साहित्यमें श्रीकृष्ण-चरित्रके स्वरूप तथा उसके विकास की व्याख्या विद्वानोंने विविध प्रकारसे की है, परन्तु इस विषयमें प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं कि कृष्ण नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, जो महाभारत कालमें विद्यमान था तथा जो न केवल महाभारत-काल तथा युद्धका नियामक—नायक था, वरन् उसका महान् व्यक्तित्व भी था। गीताकारने, इसीलिए उसे पुरुषोत्तम कहा है। गीताकार तथा कृष्णके विषयमें सामान्यतः भारतीय जनमानसमें अद्वैत-भाव ही बना रहता है। वस्तुतः गीताकार तो महाभारतकार है। हाँ, उसके गीता-दर्शनने श्रीकृष्ण-चरित्रके स्वरूपकी ऐसी व्याख्या अवश्य की है कि कृष्ण-चरित्र एक सनातन चरित्र बन गया है। भारतीय साहित्यमें श्रीकृष्ण-चरित्रकी व्याप्ति, महत्त्व, तथा व्याख्यामें गीतादर्शनके योगदानको सभी मानते हैं। मूलतः गीताकार अर्थात् महाभारतकारने जिस कृष्ण-चरित्रको परिकल्पित किया है तथा महाभारतमें अभिव्यक्त किया है, उसीको समूचे परवर्ती भारतीय साहित्यमें प्राप्त कृष्ण-चरित्र (या चरित्र-विधाओं) का मूलाधार माना जा सकता है। वस्तुतः महाभारत ही प्रथम ग्रन्थ है जिसमें कृष्ण-चरित्र अपनी पूरी समग्रता तथा समस्त मौलिक विशेषताओंके साथ सर्वप्रथम प्राप्त होता है।

महाभारतके पूर्ववर्ती समूचे वैदिक साहित्यमें कृष्ण-चरित्रका नितान्त अभाव तो नहीं है, परन्तु वे महाभारतीय कृष्ण नहीं हैं। वैदिक साहित्यमें कृष्णविषयक जो उल्लेख मिलते हैं, उनका सम्बन्ध महाभारतीय कृष्णके साथ स्थापित करना अधिक तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। समूचे भारतीय साहित्यमें कृष्ण-चरित्रकी व्याप्तिको आद्यंत मानने तथा व्यक्ति-निरपेक्ष दृष्टिसे भारतीय साहित्यमें कृष्ण-चरित्रकी समग्र-परिकल्पनाके एकत्र-अध्ययनके लिए वैदिक कृष्ण-चरित्रको परवर्ती कृष्ण-चरित्रका अंकुर अवश्य माना जा सकता है।

वैदिक साहित्यमें 'कृष्ण' शब्द जहाँ एक ओर एक ऋषिका नाम है वहीं उसे एक दैवी व्यक्ति (दैवत या अर्धदैवत) भी कहा गया है। ऋग्वेदमें एक स्थान पर 'कृष्ण' एक असुरका भी नाम है, जिसकी गर्भवती स्त्रियोंका वध इन्द्रद्वारा किया गया था। (ऋ० वे० १।१०१।१) परवर्ती कृष्ण-चरित्में भी इन्द्र-वैर या विरोध मिलता अवश्य है। ऋग्वेदमें अन्यत्र आङ्गिरस कृष्णका उल्लेख एकाधिक स्थानोंपर मिलता है, (दे० ऋ० वे० ८।८५। १-९, ८।८६।१-५, तथा १।११६।७७), यहाँ मुख्यतः कृष्णका उल्लेख अश्विनीकुमारोंकी स्तुतिके संदर्भमें मिलता है। यहाँ हमें कृष्णके पुत्र विश्वक तथा पौत्र विष्णुका उल्लेख भी मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्में (३।१७।४-६) देवकीपुत्र कृष्णको घोर अङ्गिरसका शिष्य कहा गया है। इस प्रकारका एक उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण (३०-९१) में भी मिलता है। वैदिक साहित्यमें कृष्णविषयक उक्त उल्लेखोंके आधारपर, निश्चित रूपसे वैदिक कृष्ण-चरित्र तथा परवर्ती कृष्ण-चरित्रके बीच किसी निश्चित सम्बन्धकी कल्पना

नहीं की जा सकती। गीतामें कृष्ण-चरित्रका उपदेशक तथा तत्त्वज्ञ-परमपुरुष रूप बड़े ही सशक्त रूपमें अभिव्यक्त हुआ है। परन्तु उसे वैदिक कृष्णके समान ऋषि या ऋषि-शिष्यका चरित्र किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता। गीताके कृष्णको ब्रह्म तो कहा जा सकता है, वह दिव्य-पुरुष, पुरुषोत्तम तथा योगेश्वर भी है, परन्तु ऋषि नहीं। साथ ही, परवर्ती साहित्यमें कृष्णके गुरुका नाम संदीपनि ही मिलता है, घोर आङ्गिरस नहीं। क्या संदीपनि आङ्गिरस थे? अर्थात् आङ्गिरस ऋषिके वंशज या गोत्रज थे? निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। हाँ, वैदिक कृष्ण और महाभारतीय कृष्णकी माताका नाम एक अवश्य है। क्या वैदिक देवकीपुत्र कृष्णके चरित्रका ही विस्तार महाभारतकारने किया है या महाभारतका कृष्ण-चरित्र वैदिक कृष्णसे नितान्त असम्बद्ध है और महाभारतकारकी मौलिक कल्पनाका परिणाम है, विशेष प्रमाणोंके अभावमें निश्चित रूपसे नहीं बताया जा सकता। परन्तु सामान्यतः महाभारतकारके कृष्ण-चरित्रका आधार महाभारतकालीन कृष्ण (व्यक्ति पूर्ण-पुरुष, पुरुषोत्तम) को ही माना जाता है, जिसे निश्चित ही वैदिककाल, विशेषकर संहिताकालका परवर्ती ही माना जा सकता है। क्योंकि वेद कृष्णसे पूर्व भी वर्तमान थे तथा वैसे भी इतिहासकार वैदिककालको महाभारतकालसे पूर्व ही मानते हैं तथा कृष्ण तो महा-भारतकालमें ही थे, उससे पूर्व नहीं।

महाभारतके पूर्ववर्ती पालीके त्रिपिटक-साहित्यमें कृष्णका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु परवर्ती जातक-साहित्यमें कृष्णसम्बन्धी उल्लेख दो जातकोंमें मिलते हैं। 'घात-जातक' में वासुदेव कण्हको देवगया और उपसागरके बलवान्, पराक्रमी, उद्धत तथा क्रीडाप्रिय पुत्रके रूपमें चित्रित किया गया है। 'महाउमग्ग' जातकमें वासुदेव कण्हको कामासक्त व्यक्तिके रूपमें वर्णित किया गया है। विद्वानोंने 'घत-जातक' की वासुदेव-कण्ह-कथा तथा भागवतकी कृष्ण-कथामें पर्याप्त साम्य माना है। परन्तु इन दोनोंकी कृष्ण-कथाओंके स्वरूप तथा मूल आशय या अभिप्रायमें तात्त्विक अन्तर अवश्य है।

लगभग जातकोंके समयके आसपास ही जैनोंके पौराणिक साहित्य, तमिलभाषाके संघमसाहित्य तथा प्राकृत ग्रन्थ गाथासप्तशती आदिमें कृष्णकथाके कुछ ऐसे सूत्र अवश्य मिल जाते हैं, जिनका सम्बन्ध महाभारतके कृष्णकी अपेक्षा, भागवतके कृष्णके साथ अधिक है। वस्तुतः महाभारतमें कृष्णका जो चरित्र चित्रित हुआ है, वह एक ओर जहाँ भागवतके कृष्ण-चरित्रसे भिन्न है, वहाँ वह अन्य वैष्णव पुराणोंमें वर्णित कृष्ण-चरित्र (चरित्रों) से विशिष्ट भी है। महाभारतके कृष्ण-चरित्र तथा भागवतके कृष्ण-चरित्रमें स्वरूपात्मक तथा मूल अर्थकी दृष्टिसे कुछ विरोध अवश्य हैं किन्तु ये विरोध न मौलिक हैं और नहीं वे किसी प्रकार असहज प्रतीत होते हैं। आशय यह है कि चरित्र-चित्रणकी मूल दृष्टि तथा चरित्रकी स्वरूप-नियोजना महाभारत और भागवतमें ही भिन्न नहीं है, वरन् महाभारतके बाद ही रचित हरिवंश पुराण तथा अन्य वैष्णव पुराणोंमें भी कृष्ण-चरित्र विविध रूपोंमें चित्रित तथा व्याख्यात हुआ है। यह बात दूसरी है कि कृष्ण-चरित्रके इन विविध रूपोंमें अनौचित्यपूर्ण विरोध दृष्टिगोचर कहीं भी नहीं होता तथा समूचे भारतीय साहित्यमें विविध रूपोंमें

चित्रित होनेके बाद भी कृष्ण-चरित्र एक ही कृष्ण-चरित्र बना रहता है। कृष्ण-चरित्रकी यह एक विचित्र विशेषता है।

भारतीय साहित्यमें कृष्णके इस वैविध्यपूर्ण चरित्रका मूल आधार महाभारत तथा तत्परिशिष्ट हरिवंश पुराणके कृष्ण-चरित्रको ही माना जा सकता है, साथ ही महाभारत तथा हरिवंश-पुराणमें जिस कृष्ण-चरित्रकी परिकल्पना की गयी है, उसके मूलमें गीता-दर्शनको स्वीकृत किया जा सकता है। यद्यपि महाभारत तथा हरिवंश-पुराणके कृष्ण-चरित्रका क्रमशः विकास परवर्ती पौराणिक तथा प्राकृत-साहित्यमें दृष्टिगोचर होता है; परन्तु कृष्ण-चरित्रकी इन दोनों धाराओंका समाहार भागवतकार द्वारा श्रीमद्भागवतमें होता है। वस्तुतः भागवतमें उस समय तक विकसित कृष्ण-चरित्रकी समस्त भंगिमाओंका न केवल सुन्दर समहार हुआ है, वरन् समूचे कृष्ण-चरित्रकी एक नवीन व्याख्या भी हुई है। भारतीय साहित्यमें कृष्ण-चरित्रके विकासमें भागवतका अपना विशिष्ट महत्त्व इसीलिए नहीं है कि भागवतमें आगम और निगम दोनों विचार-सरिणियोंके समन्वयके समान कृष्णचरित्रकी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों धाराओंका समन्वय, सशक्त रूपसे सर्वप्रथम हुआ है, वरन् इसीलिए भी है कि भागवतका कृष्णचरित्र परवर्ती समूचे भारतीय साहित्यमें कृष्णचरित्रकी विविध धाराओंका मूल स्रोत भी है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भागवतके पूर्ववर्ती संस्कृतके काव्य-नाटच-साहित्यमें कृष्णचरित्र कोई महत्त्वपूर्ण चरित्र नहीं है। शिष्ट संस्कृतके किसी गण्य-मान्य कविने कृष्ण-चरित्रको अपने किसी महाकाव्य या नाटकके नायकके रूपमें चित्रित नहीं किया। परन्तु भागवतकारके कृष्णचरित्रके पश्चात् संस्कृतके शास्त्रीय काव्य तथा नाटच-साहित्यमें भी कृष्णचरित्रका चित्रण मिलने लगता है।

आशय यह है कि भागवत कृष्ण-चरित्रके विकासमें एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। गीता यदि कृष्ण-चरित्रका अर्थदर्शन है तो भागवत कृष्ण-चरित्रका शब्द-स्वरूप है। भागवतकारने महाभारत-हरिवंश पुराणके कृष्ण-चरित्रको गीता तथा ब्रह्मसूत्रके दर्शनके आधारपर फिरसे कहा है और ऐसा कहा कि उसके पश्चात् भारतकी अनेकानेक लोकभाषाओंमें, लोकशिष्ट भाषाओंमें, तथा शास्त्रीय भाषाओंमें जो भी कृष्ण-चरित्र विविध रूपोंमें कहा गया वह सब भागवतके कृष्ण-चरित्रसे अनुप्राणित ही लगता है। वस्तुतः भागवतके पूर्ववर्ती भारतीय-साहित्यमें कृष्ण-चरित्रका पल्लवन मुख्यतः पुराणकरों तथा प्राकृत कवियों द्वारा ही हुआ है। परन्तु भागवतके पश्चात् कृष्ण-चरित्रके पल्लवनमें भारतीय समाजके सभी स्तरों तथा वर्गोंके साथ-साथ सभी प्रकारके कवियों, आचार्यों, विद्वानों तथा कलाकारोंका महत्त्वपूर्ण योगदान दृष्टिगोचर होता है। भारतीय इतिहासके उत्तर-मध्यकालको कृष्णचरित्रके विकासका स्वर्णकाल कहा जा सकता है। शंकराचार्यके पश्चात् जिस भक्ति-आन्दोलनका सूत्रपात हुआ था तथा जिसकी पीठिकापर आधुनिक भारतीय संस्कृतिका अधिकांश टिका हुआ है, उसके मूलमें भागवत-दर्शन ही है, तथा भागवत-दर्शनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भागवतके कृष्ण-चरित्रमें दृष्टिगोचर होती है। भागवतमें कृष्णचरित्रकी अभिव्यंजना न केवल अपने आपमें

अत्यन्त विशिष्ट, सार्थ तथा सुन्दर है, वरन् समूचे परवर्ती कृष्ण-काव्य तथा साहित्यकी प्रधान प्रेरणा-स्रोत भी है। वस्तुतः भागवतके कृष्णचरित्रकी व्याख्या कई स्तरोंपर कई दृष्टियोंसे की जा सकती है तथा मध्यकालके भक्ति-आचार्योंने की भी है। इसीलिए मध्य-कालीन भारतीय भक्ति-काव्यमें कृष्णचरित्रकी सम्प्रदाय तथा दर्शनके भेदोंके अनुसार अनेक विधाएँ विकसित होती हैं। मध्यकालमें संस्कृतके साथ-साथ आधुनिक भारतीय भाषाओंके माध्यमसे भी कृष्णचरित्रकी अनेक विधाओंका तत्कालीन भारतीय लोकके सभी स्तरों पर ऐसा प्रचार तथा प्रसार हुआ कि समस्त मध्यकालीन भारतीय शिल्प, चित्र, संगीत, नाट्य तथा नृत्यका अधिकांश ही कृष्णमय नहीं हुआ, वरन् उस समयका समूचा वाङ्मय (शास्त्र तथा काव्य दोनों प्रकारका साहित्य) कृष्ण-चरित्रकी छायासे आच्छादित हो गया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मध्यकालमें निम्बार्क, माध्व, बल्लभ, चैतन्य आदि आचार्योंने ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर भाष्य लिखकर भक्ति-सिद्धान्तकी शास्त्रीय संस्थापना की तथा भागवत आदि आगम-ग्रन्थोंको परमप्रमाणरूप मानकर कृष्णभक्तिका प्रचार भी किया। इस समय अनेकानेक भक्ति-सम्प्रदाय अस्तित्वमें आये, जिनमेंसे अधिकांश सम्प्रदायोंका आराध्य परम-दैवत श्रीकृष्ण हो हैं। इन सम्प्रदायोंमें परस्पर दर्शनका भेद है, अतः उपासना-पद्धति भी भिन्न है। परिणामतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें मान्य श्रीकृष्ण-चरित्रकी कल्पना तथा व्याख्यामें भी भेद है। इसीलिए मध्यकालमें रचित भारतोय साहित्यमें कृष्ण-चरित्र अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है। उसके इस वैविध्यका अध्ययन भाषा, प्रदेश, सम्प्रदाय आदिके दृष्टिकोणोंसे किया जा सकता है। यहाँ इस बातका उल्लेख किया जा सकता है कि शिष्ट-साहित्यमें भक्ति-आचार्यों द्वारा मान्य तथा प्रतिपादित कृष्ण-चरित्र ही दृष्टिगोचर होता है, जब कि लोकमानसने जिस कृष्ण-चरित्रका विकास किया था वह स्थानीय लोक-नृत्यों, गीतों, कथाओं, तथा अन्य सांस्कृतिक मान्यताओंके रूपमें आज भी वर्तमान है। मध्यकालीन कृष्ण-काव्यमें चित्रित कृष्ण-चरित्रके मूलमें यद्यपि, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ तथा चैतन्य-जैसे सम्प्रदाय-संस्थापक आचार्योंकी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताएँ निश्चित रूपसे हैं, परन्तु कृष्ण-चरित्रके स्वरूप तथा स्वरूपाभिव्यक्तिके मूलमें तो कवियोंकी कल्पना ही है। आशय यह कि मध्यकालमें कृष्ण-चरित्रके माध्यमसे आचार्योंने अपनी दार्शनिक मूलमान्यताओंकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की है तथा काव्योंमें उसीके माध्यमसे रूप और रसको राशि काव्यार्थको व्यक्त किया है। इस युगमें कृष्ण-चरित्रकी जो व्याख्या आचार्यों द्वारा हुई है, वह अत्यन्त मौलिक तथा तात्त्विक है। इसी प्रकार भारतीय काव्य तथा अन्य ललित कलाओंमें कृष्ण-चरित्रका चित्रण भक्त कवियों तथा कलाकारों द्वारा उतना ही सशक्त, सुन्दर तथा गहन (किन्तु सर्वजन-सुलभ) रूप तथा रीतिसे हुआ है। सभी आधुनिक भारतीय लोकशिष्ट भाषाओंमें कृष्ण-चरित्रका चित्रण विविध प्रकारसे हुआ है। इसी प्रकार लोक-गीतों तथा नाट्य-रूपोंमें कृष्ण-चरित्रकी अनेकानेक भंगिमाएँ सुरक्षित हैं।

वस्तुतः कृष्ण-चरित्रको, मात्र भारतीय, अखिल भारतीय तथा आद्यंत भारतीय होनेके कारण, भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रका प्रतीक समझा जा सकता है। मूलतः कृष्ण-चरित्र

है, जिसे सर्वप्रथम महाभारतकारने पहचाना तथा कहा कि 'यह सर्वश्रेष्ठ चरित्र है', और उसी गरिमाके साथ उसका चित्रण भी किया। हरिवंश-पुराणकारने फिर कृष्ण-चरित्रको नवीन आशय तथा रूप प्रदान किया जिसका सहज विकास परवर्ती पौराणिक संस्कृत, तथा प्राकृत आदि शिष्ट-लोक-भाषाओंके साहित्यमें दृष्टिगोचर होता है। उस समयकी लोक-भाषाओंके अलिखित तथा अनुपलब्ध साहित्यके माध्यमसे भी कृष्ण-चरित्रका विकास हुआ होगा, परन्तु प्रमाणोंके अभावमें उस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मध्यकालके प्रारम्भमें भागवतकारने कृष्ण-चरित्रकी पूर्ववर्ती सभी धाराओं तथा विधाओंका पुन. संयोजन किया। इसलिए भागवतमें कृष्ण-चरित्रका जो रूप हमारे सामने आता है वह निश्चित ही अद्वितीय है। भागवतके कृष्ण-चरित्रको ही परवर्ती वैष्णव भक्ति-आचार्यों तथा कृष्ण-भक्त, अभक्त कवियोंने अपनी कृतियोंमें अभिव्यक्त किया है। ऐसे वैविध्यपूर्ण चरित्रको उचित ही वल्लभाचार्यने 'विरुद्धधर्माश्रय' कहा है। वस्तुतः भारतीय साहित्यमें चित्रित ऐसे विचित्र चरित्र कृष्ण-चरित्रकी एक एकत्र परिकल्पना 'कृष्ण' शब्दके समस्त अर्थ-संभारका एक ही पक्ष है, उसके सभी पक्षोंका परिज्ञान अपने आपमें एक साधना ही है। जिस शब्दमें इतना और ऐसा अर्थ भरा हो, उसे परमतत्त्व ब्रह्मका वाचक अवश्य माना जा सकता है। शायद इसीलिए भागवतकारने कहा है **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**।

●

यह स्मरण रक्खो

जिसका दान नहीं किया जाता वह धन व्यर्थ चला जाता है, जिसकी रक्षा नहीं की जाती, वह राज्य अधिक काल तक नहीं टिक पाता है और जिसका अभ्यास नहीं किया जाता, वह शास्त्रज्ञान भी टिकाऊ नहीं होता। असली लोगोंको विद्या नहीं मिलती। पुरुषार्थके बिना लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं होती। भगवान्‌की भक्तिके बिना यशकी प्राप्ति नहीं होती। उद्यमके बिना सुख नहीं मिलता। अपवित्र रहनेवालेको धर्मका लाभ नहीं प्राप्त होता। अप्रिय वचन बोलनेवाला ब्राह्मण धन नहीं पाता। जो गुरुजनोंसे प्रश्न नहीं करता, उसे तत्त्वका ज्ञान नहीं होता तथा जो चलता नहीं, वह मंजिल तक नहीं पहुँच पाता। जो सदा सजग रहता है, उसे कभी भय नहीं प्राप्त होता है।

(नारद पुराणसे)

केदारराजकन्या वृन्दा

शङ्खपाणि

'महाराज मैं आपकी कन्या हूँ।'

महाराज उत्तानपादके प्रपौत्र, ध्रुवके पौत्र तथा नन्दसावर्णिके पुत्र सप्तद्वीपाधिपति, महाभागवत, महादानी, चक्रवर्ती सम्राट् केदारराजका यज्ञमण्डप वेदमन्त्रोंके गम्भीर घोषसे गूँज उठा था। यज्ञकुण्डमें प्रज्वलित अग्निदेवकी ज्वाला प्रदक्षिण भावसे उठकर हविष्य ग्रहण कर रही थी। सुवर्णश्रृङ्गी गौओंके दान तथा ब्राह्मणोंके भोजनका कार्यक्रम प्रातःसे सायंकाल तक अनवरत गतिसे चल रहा था। स्वयं फलाहारपर रहनेवाले जितेन्द्रिय केदारराज अपना सब कुछ भगवान् विष्णुके चरणोंमें अर्पित करके निष्काम-भावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ-यागादिमें निरत थे। मूर्तिमान् देवता, देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षिगण यज्ञशालाकी शोभा बढ़ा रहे थे। सहसा यज्ञकुण्डसे एक ज्योतिर्मयी आकृति प्रकट होती दृष्टिगोचर हुई—अतर्कित, असङ्कल्पित। महावैष्णव केदारराजकी कीर्ति बढ़ानेके लिए साक्षात् वैकुण्ठधामकी अधीश्वरी महालक्ष्मी अपनी कलासे कामिनियोंमें श्रेष्ठ कमललोचना कन्याके रूपमें उनके यज्ञकुण्डसे प्रकट हुईं। उनके अङ्गोंपर अग्निमें तपाकर शुद्ध किया हुआ दिव्य स्वर्णमय वस्त्र सुशोभित था और वे दिव्य रत्न-निर्मित आभूपणोंसे विभूषित थीं। उन्होंने राजासे कहा—

'महाराज ! मैं आपकी कन्या हूँ।'

उस अप्रतिम तेजस्विनी दिव्य किशोरीको कन्याके रूपमें पाकर केदारराज धन्य-धन्य हो गये। उन्होंने अपने ऊपर यह भगवान्का परम अनुग्रह माना। भक्तिपूर्वक उस कुमारीका पूजन किया और उसे अपनी रानीके हाथमें सौंपकर वे चुपचाप खड़े हो गये। सारा यज्ञमण्डप उस दिव्य कन्याके तेजसे उद्भासित हो रहा था। उसने विनीत भावसे माता-पिताको प्रणाम किया और कहा—'पूज्य पिता और माँ ! मैं एक अत्यन्त दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिके लिए तपस्या करना चाहती हूँ। आप मुझे आज्ञा दें।' यह फूल-सा सुकुमार शरीर, यह नूतन वयस् तथा तपस्याके लिए परम आग्रह ! सबको आश्चर्य-सा लगा। परन्तु 'सब कुछ भगवदिच्छा' माननेवाले राजदम्पतिने विवश होकर अनुमति दे दी। उस कन्यामें समस्त सद्गुण-वृन्दका वास था, इसलिए वह 'वृन्दा' नामसे विख्यात हुई। माता-पिताकी आज्ञा प्राप्त करके वह यमुनातट पर स्थित रमणीय पुण्यवनमें चली गयी और वहीं कठोर तपस्यामें संलग्न हुई। वह स्थान वृन्दाका तपोवन था, इसलिए वृन्दावनके नामसे विख्यात हुआ।

(२)

ऐसा कठोर तप न तो किसीने देखा होगा और न सुना ही होगा। एक आसनसे स्थित, किसी अनिर्वचनीय समाधिमें मग्न। निराहार, निर्जल और निश्चल शरीर। मनु बदल गये, इन्द्र परिवर्तित हो गये, सप्तर्षियोंके पदपर भी दूसरे ऋषियोंकी प्रतिष्ठा हो गयी। इकहत्तर चतुर्युगीका एक मन्वन्तर समाप्त हो गया। दूसरे मन्वन्तरके भी सैंतीस चतुर्युग निकल गये। पूरे एक सौ आठ चतुयुर्गों तक निरन्तर तपस्या, अनवरत साधना! धन्य है यह आराधिका और धन्य हैं इसके आराध्य देव! कल्पजीवी महर्षि भी चकित हो गये। ब्रह्माजीका आसन हिल गया। हंसवाहन उस दिव्य तपोवनमें उतरे। देखा, दिव्य तपस्विनीका तेज ज्यों-का-त्यों है। प्राकृत विकार इस चिन्मय देहको नहीं छू सके हैं। न देह-पर बाँबीकी मिट्टी जमी है, न केशकलापमें पक्षी ही घोंसले बनानेका साहस कर सके हैं। पार्थिव कीटाणु उस तेजको नहीं छू सकते थे। पतङ्ग अग्निपर टूट पड़ें तो भी क्या बिगाड़ सकते हैं? तन-मन, प्राण, आत्मा सब निर्विकार, सब निर्दोष। कौन-सा दिव्य अमृत पीकर यह अक्षीण रूप-यौवन उत्तरोत्तर परिपुष्ट और उद्दीप्त होता जा रहा है। यह विधाता-की भी समझमें नहीं आया। जान पड़ता है, किसी चिन्मय मरीचिमालीकी अमृतमयी रश्मियोंका पुञ्ज भूतल पर उतर आया है—इस धरा धामको अभिराम रामणीयक देनेके लिए, इसे शक्ति एवं पुष्टि प्रदान करनेके लिए। ब्रह्माजीने कमंडलुका दिव्य जल छिड़ककर तपस्विनीको सावधान किया और अभीष्ट वर मागनेके लिए प्रेरणा दी।

वृन्दाने उठकर पितामहको प्रणाम किया और विनीत भावसे कहा—'देव! आप तो सबके मनको जाननेवाले हैं; फिर पूछते क्यों हैं? आपकी आज्ञा है, अतः अपना हृद्य मनोरथ निवेदन करती हूँ। मेरी इच्छा है कि साक्षात् परिपूर्णतम परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण मुझे पति रूपमें प्राप्त हों।'

पितामहने कहा—'बेटी! तुम्हारा यह दुर्लभ मनोरथ कुछ कालके पश्चात् पूर्ण होगा।'

(३)

वृन्दाकी पर्णशालाके द्वारपर एक परम सुन्दर तरुण ब्राह्मण-कुमार आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत था। वृन्दाने अतिथिका फल-मूलोंसे स्वागत किया। आतिथ्य ग्रहण करके उस तरुण अतिथिने इस प्रकार वार्ता आरम्भ की।

'सुन्दरी! क्या मैं तुम्हारा परिचय जान सकता हूँ!'

'क्यों नहीं, सुनिये, मैं केदारराजकी कन्या वृन्दा हूँ और यहाँ एक परम दुर्लभ मनोरथकी सिद्धिके लिए तपस्यामें संलग्न हूँ।'

'तुम तो स्वयं तपस्याका फल हो। यह रूप, यह यौवन किसके लिए अभ्यर्हणीय नहीं होगा? तुम तपस्या द्वारा क्या पाना चाहती हो?'

'भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण मुझे प्रियतम पतिके रूपमें प्राप्त हों—यही मेरी एक-मात्र लालसा है।'

'कितने दिन व्यतीत किये हैं तुमने इस तपस्यामें ?'

'यह एक सौ आठवीं चतुर्युगी चल रही है।'

'ओह ! इतने दीर्घकालसे तप करती हो ? किन्तु तुम्हारी अवस्था तो सोलह सालसे भी कमकी जान पड़ती है ! क्या अभी तक तुम्हें सफलता नहीं मिली ?'

'मेरे प्रियतम नित्य तरुण और चिर नवीन हैं। मेरा दिव्य रूप और अक्षय यौवन उन्हींका कृपा-प्रसाद है। मुझे सिद्धिका वरदान तो मिल चुका हैं; परन्तु प्रियतमकी सेवा प्राप्त होनेमें अभी कुछ कालकी प्रतीक्षा है।'

'इतने युग बीत गये, कब तक प्रतीक्षा करती रहोगी ?'

'प्रतीक्षा ही तो जीवन है। प्रतीक्षामें जो सुख है, वह प्राप्तिमें कहाँ ?

तो क्या तुम प्राप्ति नहीं चाहती ?

प्राप्ति नहीं चाहती तो प्रतीक्षा कैसे करती ?

'क्या तुम्हारे माता-पिता हैं ?'

नहीं, उनके परमधाम पधारे एक सौ सात युग बीत गये। अब तो उनके गोत्रमें भी कोई नहीं रहा। मैं अकेली हूँ।'

'फिर तुम्हारी रक्षा या देखभाल कौन करता है ?'

'सर्वान्तिर्यामी भगवान् श्यामसुन्दर ही मेरे रक्षक हैं। श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित धर्म नित्य मेरी रक्षा करता है। सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा—ये सभी सदा मेरी देख भाल करते हैं। शरणागतवत्सल भगवान् श्यामसुन्दर क्या कभी मेरी उपेक्षा कर सकते हैं ?'

'सुन्दरी ! भावनामें न बहो। वास्तविकताको समझो, आकाशके तारे तोड़ लानेका प्रयास बालहठमात्र है। बौनेके हाथ ऊँचे वृक्षकी शाखामें लगे फलको नहीं तोड़ सकते। नावसे केवल नदी पार को जा सकती है, समुद्र नहीं। भगवान्‌के दो रूप हैं, द्विभुज और चतुर्भुज। द्विभुज रूपसे वे गोलोकधामको धन्य बनाते हैं और चतुर्भुज रूपसे वैकुण्ठधाममें विहार करते हैं। गोलोककी रानी हैं राधा जो श्रीकृष्णकी भी आराध्या है। तुम-जैसी आराधिका राधिकाका स्थान नहीं ले सकती। वैकुण्ठकी अधीश्वरी हैं लक्ष्मी, जो श्रीहरिके वक्षःस्थल पर एकाधिकार रखती हैं। तुम मिथ्या स्वप्न देखनेमें अपना जीवन और यौवन व्यर्थ न गँवाओ।'

'ब्राह्मण ! आपमें यदि कोई तपःशक्ति हो और उसके द्वारा मुझे मेरे लक्ष्यकी शीघ्र प्राप्ति करा सकें तो परोपकारकी दृष्टिसे ऐसा करें। यदि आपमें यह शक्ति नहीं है तो अपना रास्ता लें। आपको मेरे आन्तरिक जीवनकी बातोंमें रुचि लेनेकी क्या आवश्यकता है ?'

'देवि ! तुमने मेरा मन मोह लिया है। मुझे निराश न लौटाओ। मुझे ही जीवन-सहचर बनाकर अपने और मेरे सुखका संसार बसाओ।'

इतना कहकर ब्राह्मण-कुमार वृन्दाकी ओर बढ़ा, मानो वह उसे अपने अङ्कमें भर लेना चाहता हो। ब्राह्मण-कुमारकी कुचेष्टा देखकर तपस्विनी वृन्दाके नेत्र रोषसे रक्त-वर्ण हो गये। वह उसे समझाती हुई बोली—

'ब्राह्मण ! मन पर नियन्त्रण रक्खो। तुम्हारी चेष्टा ब्राह्मणत्वको कलङ्कित करनेवाली है। परस्त्रीके प्रति कुदृष्टि मृत्युसे भी अधिक भयंकर है। नरकके पथपर पैर न बढ़ाओ। मुझे अकेली न समझो। मैं अपने तेजसे तुम्हें भस्म कर सकती हूँ, किन्तु ब्राह्मणको अवध्य जानकर छोड़ देती हूँ। भगवान् मेरे रक्षक हैं। तुम अपने प्राण बचाओ। भागो यहाँसे।'

ब्राह्मण अब भी कुटिल कटाक्षपूर्वक उसकी ओर देखता रहा—वह ज्यों ही आगे बढ़ा, वृन्दाके मुखसे निकल पड़ा—'पापी ! तू नष्ट हो जा।' उसके इतना कहते ही ब्राह्मण-कुमार धड़ामसे गिर पड़ा।'

इसी समय भगवान् विष्णु और ब्रह्मा आदि देवता वहाँ आ पहुँचे। ब्रह्माजीने कहा 'वृन्दा ! तुमने अच्छा नहीं किया। ये ब्राह्मण-कुमार तुम्हारे सतीत्वकी परीक्षाके लिए भेजे गये साक्षात् धर्म हैं। इनको शाप देकर तुमने जाने-अनजाने धर्मका विनाश किया है।'

वृन्दाको यह जानकर बड़ा दुःख हुआ। उसने विधातासे धर्मके जीवनका उपाय पूछा। उस समय भगवान् विष्णु बोले—'तुमने अपनी तपस्यासे ब्रह्माके समान आयु प्राप्त की हैं, वही आयु तुम धर्मको दे दो तो ये जीवित हो सकते हैं। अपनी आयु इन्हें देकर स्वयं गोलोक पधारो, वहाँ तुम्हें मेरे द्विभुज रूपकी प्राप्ति होगी। सुमुखि ! गोलोकमें आनेके पश्चात् श्वेत वाराहकल्पमें तुम श्रीराधाकी छायाभूता वृषभानु-कन्या होओगी। उस समय मेरे कलांशसे उत्पन्न हुए रायाण गोप तुम्हारा पाणिग्रहण करेंगे। फिर रासक्रीडाके अवसरपर तुम गोपाङ्गनाओं तथा श्रीराधाके साथ मुझे प्राप्त करोगी। जब राधा श्रीदामाके शापसे वृषभानु-कन्या होकर प्रकट होंगी, उस समय वे ही वास्तविक राधा रहेंगी। तुम तो उनकी छायास्वरूपा रहोगी। विवाहके समय वास्तविक राधा तुम्हें प्रकट करके स्वयं अन्तर्धान हो जायँगी तथा रायाण गोप तुम छायास्वरूपाको ही ग्रहण करेंगे; परन्तु गोकुलके मोहाच्छन्न लोग तुम्हें 'यह राधा है'—ऐसा समझेंगे। उन गोपोंको तो स्वप्नमें भी वास्तविक राधाके चरण-कमलोंका दर्शन नहीं होता; क्योंकि साक्षात् राधा तो मुझ श्रीकृष्णास्वरूपकी गोदमें समोद निवास करती हैं और उनकी छाया रायाणकी भार्या होती है।'

वृन्दाने अपनी आयु दे दी। धर्म पूर्णरूपसे उठकर खड़े हो गये। उनके शरीरकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी और उनका सौन्दर्य पहलेकी अपेक्षा बढ़ गया था। उस समय वृन्दा बोली 'मेरा शाप भी व्यर्थ नहीं होगा—ये धर्म सत्ययुगमें ही पूर्ण रूपसे रहेंगे। त्रेतामें इनके तीन पैर, द्वापरमें दो पैर और कलियुगके प्रथमांशमें इनका एक ही पैर रह जायगा। कलियुगके शेषांशमें धर्मका षोडशांशमात्र ही अवशिष्ट रहेगा; फिर सत्ययुगमें ये परिपूर्ण हो जायँगे।'

इतना कहकर वृन्दा दिव्य विमानपर आरूढ़ हो गोलोक धाममें चली गयी।

●

वेद मन्त्रोंके मङ्गलमय संदेश

जीवनके प्रति-वैदिक दृष्टिकोण

श्री नागेश्वरसिंह 'शशीन्द्र' विद्यालंकार

★

वेदोंमें एक ओर जहाँ शान्ति 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' शिवकी वाणी है वहीं दूसरी ओर जीवन-संग्राममें बढ़नेके लिए 'चरैवेति-चरैवेति'की पुकार भी है। वहीं अनवरत जीवन-पथपर चलते रहनेका अमर सन्देश है। वेदके आदर्शने जहाँ मानवको उद्यम एवं आनन्दकी ओर अग्रसर किया है, वहीं दूसरी ओर वैदिक ऋषियोंने उदात्त स्वर-सन्धानके माध्यमसे मनुष्यको कठोर एवं आनन्दपूर्ण जीवन वरण करनेके लिए भी कहा है। ऋग्वेदमें कहा गया है—

गोत्रमिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्मं प्रमृणन्तु मोजसा।
इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसर मध्वम्॥

आनन्दवाद हिन्दूधर्म-दर्शनका प्राणविन्दु है। वेदोंमें हमें आशा, आनन्द एवं पूर्ण विकसित जीवनकी वाणी मिलती है। वैदिक-ऋषियोंने अनेक स्थलों पर इस बातकी उद्घोषणा की है। यजुर्वेदमें कहा गया है—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम्॥
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

मानवीय सृष्टिके बाद ही प्रकृतके उल्लासका अनुभव होना प्रारम्भ हुआ तो वैदिक ऋषियोंने मनुष्यके लिए इस निखिल सृष्टिमें जीवन-धनसे अधिक काम्य एवं वरणीय और कुछ नहीं माना। वेद कहते हैं—

'आरोहता युर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यधिस्व।'

केवल दीर्घ जीवन, सौ शरद् देखें, सौ शरद जीयें ही मानवके लिए काम्य नहीं—वह जो जीवन उसे जीनेके लिए मिले वह गौरव एवं उद्यमसे युक्त एवं अदीनतासे मुक्त हो।

ऋग्वेदमें मनुष्यके जन्मके सम्बन्धमें कहा गया है—

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे समुषद्भिरजायथा। (१।६।३)

'मनुष्यों ! जड़में ज्ञानका, और रूपहीनमें सौन्दर्यका वितरण करते हुए तुम उषाके साथ उत्पन्न हुए हो ।' तभी तो इस देशमें जन्मे हम मानव कितने महान् हैं । भगवान् मनुने भी इस देशके सम्बन्धमें कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

वेदका ऋषि जीवात्माको सम्बोधित कर कहता है, 'जीवन रथपर चढ़े चलो । जराको वरण करो, उद्यमशील बनकर एक होकर चलो । संघमें चलो ।' वहीं हमें दूसरोंकी चीजों पर दूसरे राष्ट्र पर दृष्टि डालनेकी मनाही की गयी—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

जीवनरूपी संग्राममें मनुष्यको पद-पद पर बाधा, विघ्नका सामना करना पड़ता है । इस जीवन-संग्राममें मनुष्य विजयी हो । ऋषि कहता है—'पत्थरोंसे पूर्ण नदी बह रही है । मनुष्यों ! संघशक्तिसे आगे बढ़ो । तुम्हारा मस्तक उन्नत रहे । जो तुम्हारे प्रतिकूल हैं, उनका त्याग करो । आगे बहनेवाली नदीको पारकर कल्याणी शक्तिको पाओ ।'

वेदवाणी मनुष्यके चैतन्यको जाग्रत् करती है । कल्याणपथपर जानेके लिए उसे उद्‌बुद्ध करती है । तभी तो 'पश्येम शरदः शतम्' के साथ ही वेदोंमें ऐसी प्रार्थना भी ध्वनित होती है—

स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

वेदके मर्मज्ञ विद्वान सुकवि श्री श्री रामपाठकने लिखा है—'वेद हमारे जीवनके आधार हैं, जहाँ अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की मंदाकिनी तो बहती ही है, साथ ही, उसमें ज्ञान-विज्ञानके मूल स्रोत भी हैं । इसके सूखनेसे समस्त भारतीय जीवन सूख सकता है । वेद तो निखिल सृष्टिके आत्मसंजीवन है ।'

जीवनका पथ कल्याणमय हो । कल्याणमें ही उसकी स्थिति है । चन्द्र, सूर्य आदिके सदृश ही मनुष्यको कल्याणमार्गका ही पथिक होना चाहिए । यथा—

स्वस्ति पन्थानमनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
(ऋ० ५-५१-१५)

मनुष्यके मनकी प्ररणा भी कल्याणमयी हो—

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते।
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

तभी तो 'ऋक्' और 'साम' के कवि ऋषियोंने मनुष्यको अपना विधाता मात्र माना—

अनुप्रत्नास आयवः।
पदं नवीयो अक्रमुः ये जनन्त सूर्यम्॥

(ऋक् ६–२३–२) (सा ६–२–६)

'हे जीव ! नयी प्राण-प्रतिभासे जगो। अपना सूर्य आप बनो। मिटते हुए पदचिह्नोंपर कभी मत चलो।

सत्य ही मनुष्यके जीवनका आधार है। सत्य शाश्वत है। सत्य ही उस विराट पुरुषका स्वरूप है। सत्यपर ही सारी पृथ्वी प्रतिष्ठित है। वेदने उस सत्यका जयगान इन शब्दोंमें किया—

सत्येनोत्तभिता भूमिः। (अ० १४–१–१)

यह वही सत्य है, जिसके पालनसे मनुष्य पृथ्वीको भोग सकता है—

सत्यं बृहत ऋतम् उग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्युरं लोकं पृथिवी न कृणोतु॥

(अ० १२–१–१)

श्रमके बिना जीवन सारहीन है। श्रम करना ही जीवन है। श्रम न करना ही मृत्यु है। जीवनमें श्रमकी प्रतिष्ठाका गान गाते हुए ऋषियोंने कहा—

नाऽनाश्रान्तय श्रीरस्ति पापो नृषद्वरो जनः।
इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति चरैवेति॥ १॥
पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
रते अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण पप्रथे हताः॥
चरैवेति। चरैवेति।

स्वयंको समझना ही वेद विद्याका उद्देश्य है। व्रत ग्रहण करना ही जीवनकी दीक्षा है। कहा है—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति।' वैदिक ऋषियोंने अपनी वाणी द्वारा जो अमर संदेश दिये हैं, वहाँ अन्धकारका अस्तित्व ही नहीं है, वहाँ तो केवल प्रकाश है, जहाँ मनुष्य उत्साह एवं उल्लासके साथ आगे बढ़कर उस परम प्रभुके पास पहुँच सकता है।

●

शिवरात्रिके उपलक्ष्यमें

विदेशोंमें शिवोपासना

श्रीबलराम शास्त्री

★

विश्वास करनेवाले जन (भक्तजन) भारतके गाँव-गाँव, घर-घरमें हो गये। शनैः शनैः भारतके बाहर भी शिवलिंगार्चन-पद्धति अग्रसर हुई।

भारतके बाहर शिवलिंगार्चन-पद्धतिमें विश्वास करनेवाले और उस पद्धतिको अपनानेवाले भक्तजन उस लिंगको ब्रह्माण्डका रूप मानकर ही उसका पूजन करने लगे थे। शिवलिंगकी पूजा अनाम देशमें व्यापक रूपमें प्रचलित हो गयी थी। प्राचीन युगमें अनामको ही चम्पादेश कहा जाता था। प्राचीन कालमें चम्पादेशका इतिहास बहुत ही उज्ज्वल और धार्मिक विचारधारासे ओतप्रोत था। फ्रान्सके विद्वान् श्री लुईने अपने पुरातत्व सम्बन्धी पुस्तकमें, विदेशोंमें शिवार्चन-सम्बन्धी कई उदाहरण उल्लिखित किये हैं। उस ग्रन्थसे पता चलता है कि, तुर्किस्तानके बावलिन नामक नगरमें, एक हजार दो सौ फुट ऊँचा शिवलिंग था। कहा जाता है कि उतवा बड़ा शिवलिंग कहीं नहीं देखा गया। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालयके फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय श्री महेशप्रसाद आलिम फाजिलने एक बार भ्रमण करते हुए ईरानकी यात्रा की। वहाँ उन्होंने शिवका विशाल मन्दिर देखा था। वह मन्दिर हजारों मुसलमानोंके घरोंके बीचमें स्थित है। वहाँके रहनेवाले पचास-साठ हिन्दू परिवार आज भी उस लिंगकी पूजा करते हैं। मुसलमानोंके बीच शिव-मन्दिरकी स्थिति आज भी बनी है। वहाँके मुसलमान भी असहिष्णु नहीं हैं।

कुछ विद्वान् मक्काके मसजिदमें स्थित काले पत्थरको 'मक्केश्वर' महादेव कहने लगे थे। कुछ वैज्ञानिक उस काले पत्थरको 'उल्का-खण्ड' मानते हैं। उल्का-खण्ड माननेवाले जन पुरातत्त्ववेत्ता ही होंगे! कुछ लोगोंने मक्काके 'जमजम' कुण्डमें शिवलिंग पाये जानेकी चर्चा की है। श्री लुई साहबकी पुरातत्व-सम्बन्धी पुस्तकमें यह उल्लेख है कि उत्तरी अफ्रीकाके 'इजिप्ट' प्रदेशमें मेक्शि और आशीराश प्रदेशमें नन्दी पर विराजमान शिवलिंग पाये जानेका ज्वलन्त प्रमाण मिलता है। वहाँ त्रिशूलधारी और व्याघ्रचर्मधारी मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं। उन मूर्तियों पर पुजारी जन दूध और बिल्व-पत्रसे अभिषेक करते हैं। अमेरिकाके ब्राजील प्रदेशमें बहुतसे शिवलिंग मिले थे। आज भी फिजीनके 'एरिश' और 'मिनिवी' गाँवमें 'एबीर' नामक शिवलिंग सुरक्षित है। यूरोपके करीन्थ नामक गाँवमें पार्वती-मन्दिर है।

इटलीके ईसाई लोग बहुत दिनोंतक शिवलिंगकी पूजा करते रहे। इस प्रकार स्काटलैंड (ग्लासगो) में ऐसे ही शिवलिंगोंकी प्रतिमाएँ मिली हैं। एक मूर्तिपर सोनेका काम किया गया था। उस लिंगकी पूजा आज भी वहाँके लोग भक्ति-भावसे करते हैं। काबुल, चित्रालय, बलखबुखारा आदि स्थानोंमें भी शिवलिंग मिले थे। उन देशोंके कुछ निवासी उन लिंगोकी 'पंचशेर' या पचवीर' नामसे आज भी पूजा करते हैं। रोममें शिवलिंगकी पूजा 'पर्येपश' नामसे होती थी। यूनानकी जनता लिंगकी पूजा 'पल्लूश' नामसे करती हैं। कर्नल टाडने पल्लुशको फलेश माना था। शीघ्र ही फल देनेवाले देव शंकर भगवान् ही माने जाते हैं। इसीलिए उनको 'आशुतोष' और 'अवढरदानी' भी कहते हैं।

इस प्रकार उन पाश्चात्य विद्वानोंकी अमर लेखनीसे शिवार्चनका पवित्र इतिहास अवगत होता है। प्राचीन कालमें चीन और जापानके जो इतिहास उपलब्ध हुए हैं, उनके अवलोकनसे भी यह अवगत होता है कि उन दोनों देशोंमें भी शिवलिंगार्चन होता रहा। वहाँके प्राचीन साहित्यमें शिवलिंगार्चनका प्रमाण उपलब्ध होता है। मिस्र देशमें शिवकी पूजा 'हर' और 'इशि:' के नामसे होती थी। प्रमाणोंसे अवगत होता है कि रोम, यूनान, मिस्रमें फाल्गुन मासमें वसन्तके समय ही शिवलिंगकी विशेषरूपसे पूजा होती थी। पूजाकी पद्धतिमें धूप, दीप, नैवेद्य आदिका उपयोग होता था। यहूदी लोग भी पहले शिवकी पूजा करते थे। वे उस शिवमूर्तिको 'बालेश्वर' कहते थे। 'बाललिंग' के सम्मुख नन्दीकी भी प्रतिमा रखी जाती थी। कर्नल टाडका कथन है कि अरबमें मुहम्मद साहबके जन्मके पूर्व वहाँकी जनता 'लात' नामक शिवलिंगकी पूजा करती थी। सोमनाथ मन्दिरको जब मुहम्मद गजनवीने तोड़ा था और उस मन्दिरसे अरबोंकी सम्पत्ति लूट लिया था, तो गजनीकी जनताने सोमनाथको 'लात' के रूपमें ही माना था। 'मक्केश्वर' महादेवके विषयमें ब्रह्मपुराणमें भी चर्चा है। भविष्य-पुराणके ब्राह्मपर्वमें भी वही चर्चा है। जिस पाषाण-खण्डको कुछ लोग मक्केश्वर मानते रहे, उसे आज भी मुसलमान हजयात्री पहुँच कर चुम्बन करते हैं। धन्य हैं वह पत्थर, जिसकी आज भी जिस किसी रूपमें पूजा होती है। उस भाग्यवान् पत्थरके विषयमें कहा जाता है कि उस पत्थरकी पूजा अर्चा पहले इसराइली, और यहूदी ही करते रहे, और उन्होंने बहुत दिनों तक उसकी पूजा की। मुहम्मद साहबके समय उसकी पूजा चार जातिके लोग चार क्रममें करते रहे। जब काबाकी मसजिदमें उसे पधरानेका समय हुआ, तो एक विचित्र प्रश्न उपस्थित हुआ। कौन जातिके लोग उस पत्थरको उठाकर काबामें पधरावें और काबाकी मसजिदमें उस पत्थरको पधराकर कौन गौरव प्राप्त करे? विवाद उपस्थित होनेपर मुहम्मद साहबका निर्णय लिया गया। एक चादरमें उस पत्थरको रक्खा गया। चार जातिवालोंने उस चादरके चारों कोनाको अपने हाथोंमें थामा और चारों जातिके लोगोंने मिलकर उस पत्थरको काबाकी मसजिदमें पधराया। अब उस पत्थरकी पूजा नहीं होती 'हजयात्री' उस पत्थरको आदरके साथ चूमता है।

फ्रांसके उपासना-गृहोंमें आज भी लिंगके दर्शन होते हैं। उनकी पूजा नहीं होती। पाश्चात्य देशोंमें लिंगपूजाकी व्यापकता प्रमाण 'फ्लेसिजम' शब्दकी उत्पत्तिसे मिलता है।

इसे एक सम्प्रदायका रूप ही माना जाता है। उस सम्प्रदायको माननेवाले लोग लिंगकी पूजा करते हैं और करते थे। इसे हिन्दीमें लिंगार्चा कहा जाता है। इस सम्प्रदायके लोग जहाँ कहीं भी थे, लिंगकी पूजा करते थे। उस जमातके लोग कई देशोंमें फैले थे। हमारे भारतमें भी लिंगायत एक सम्प्रदाय है। इस मतके लोग दक्षिणमें अपनेको जंगम कहते हैं। ये लोग रजत पेटिकामें शिवलिंग रखकर उसे गलेमें या बाहोंमें बाँधते हैं। अनाम देशमें शिवलिंगकी पूजाका सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहास मिलता है। वहाँ शिवलिंगसे सम्बन्धित अनेक इतिहास अनेक शिलालेख प्राप्त होते हैं। अनाम देश हिन्द-चीनमें है। 'मीसोन' नामक स्थानमें शिवलिंगोंकी भरमार है। प्रत्येक शिवलिंग और पत्थरोंके विषयमें शिलालेख मिलते रहते हैं। शिलालेखमें सुन्दर संस्कृत भाषामें उल्लेख मिलते हैं। मीसोन नामक गाँवमें एक 'भद्रेश्वर' महादेवका मन्दिर है। भद्रेश्वर शिवलिंगके विषयमें भी शिलालेख प्राप्त होते हैं। शिलालेख ईसवी पाँचवीं शताब्दीका माना जाता है। मीसोनके चौथे शिलालेखसे पता चलता है कि 'चम्पा देशके भद्रवर्मा नामक राजाने भद्रेश्वर शिवलिंगकी स्थापना करायी थी। कालान्तरमें वह शिवम-न्दिर जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। बादमें रुद्रवर्माके पुत्र शम्भूभद्र वर्माने उस मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया और शिवलिंगकी स्थापना करायी। इसका उल्लेख उस गाँवके सातवें शिलालेखमें है। एक श्लोकका उद्धरण निम्न प्रकारसे है।

'सृष्टि येनत्रितयमखिलं भुर्भूवः स्वः स्वशक्त्या,
येनोत्खातं भुवनदुरितं बह्निनेवान्धकारम्।
यस्याचिन्त्यो जगति महिमा यस्य नादिर्नचान्तः,
चम्पा देशे जनयतु सुखं शम्भुभद्रेश्वरीऽयम्॥

इस श्लोकमें चम्पादेशमें भारतकी संस्कृति, सभ्यता और शैव धर्मकी विशिष्ट छाप है। पद्यमें शिवकी भक्तिका मूर्तरूप व्यक्त हो रहा है। राजाने अपने नामसे शिवलिंगकी स्थापना करके, शिवलिंगके नामकरणमें भारतीय परिपाटी सुरक्षित रहने दी है। शिवलिंगकी स्थापनाके समय संस्थापकके नामके आधार पर ही शिवलिंगके नामका उल्लेख होता है। राजाने शिवकी स्तुतिके श्लोकोंको खुदवाकर और शिलालेखके रूपमें अंकित करवाकर शिलालेखको पवित्र और मंगलमय बना दिया। वह शिलालेख मन्दिरमें ही लगाया गया। चम्पादेशके राजाओंने इस प्रकार अनेक शिव-मन्दिर बनवाये और शिलालेख लिखवाये। राजाओंकी उसी परम्परामें एक ज्ञानचन्द्र नामक राजा हो गये। उन्होंने ज्ञान भद्रेश्वर नामक शिवलिंगकी स्थापना की। उस मन्दिरके व्ययके लिए 'ज्ञानभद्रेश्वरको रखा गया। शिलालेखमें उसका भी उल्लेख है—'श्रीज्ञानभद्रेश्वरकोषं संस्थाप्य यथाविधि स्वभक्तिवशात् श्रीमान् प्रकाशबर्मा मुकुटं भद्रेश्वरायादात्' यह शिलालेख सन् ६८७ ईसवीका है। मन्दिरके विषयमें भी यह उल्लेख है कि प्रतिदिन नवीनताके साथ भोगरागको व्यवस्था होती थी। प्रायः नित्य नया मुकुट बनाकर मूर्तिपर रखा जाता था। चम्पादेशके उस मन्दिरकी सारी व्यवस्था अत्यन्त धार्मिक रीतिसे सम्पादित होती रही। यह सब शिलालेखसे प्रमाणित हो जाता है। यहाँके व्यवस्थाकी भाँति स्थायी रूपमें पूजन आदिके लिए निधिकी

स्थापना करके चम्पादेशके राजाओंने अपनी दृढ़ भक्ति और पवित्र आस्थाका परिचय दिया था। सन् ७३० ईसवीका एक शिलालेख मिला है, जिसमें, नरवाहनवर्मा द्वारा सोनेकी शिवलिंग-पीठिकाका बनवाया जाना भी उल्लिखित है। इस शिलालेखमें उस राजा द्वारा 'कम्बोडिया' पर विजय प्राप्त करनेका भी उल्लेख है। कहा जाता है कि चम्पादेशके हिन्दू राजाओंकी उन्नति देखकर कम्बोडिया नरेश डाह मानने लगे थे और इसीलिये चम्पादेशके राजाने कम्बोडियापर चढ़ाई कर दी और विजय भी प्राप्त कर ली। उस विजयमें जो सम्पत्ति हाथ लगी उसे मन्दिरकी व्यवस्थामें ही व्यय कर दिया। चम्पादेशके प्रसिद्ध राजा श्रीजयेन्द्रवर्मानें सन् १०८२ ईसवीमें उस मन्दिरके लिए रत्नोंसे जड़ा एक सोनेका कवच भी समर्पित किया था। इन सब तथ्योंसे यह प्रमाणिम होता है कि, अनाम (चम्पादेश) के राजा परम शिवभक्त और अत्यन्त धार्मिक होते थे। उन्हें शिवलिंग-पूजन-परम्परामें अटूट श्रद्धा थी। इन तथ्योंके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि, राजाओंकी राजसभामें संस्कृतके विद्वान् प्रश्रय पाते रहे। संस्कृतके विद्वान् राजाओंकी प्रशंसामें', काव्यकी रचना भी करते रहे।

भारतके बाहर अनाम (चम्पादेश) में हिन्दू संस्कृतिकी महत्ता और शिवलिंग पूजनकी व्यापकता बतानेवाले संस्कृतके वे शिलालेख आज भी सुरक्षित है। कम्बोडियामें भी शिवलिंगकी प्राप्तिका पता चला है। कम्बोडियाको कम्बोज भी कहा जाता है। एक ऐतिहासिक तथ्यसे यह भी पता चलता है कि, कम्बोजके एक राजा राजेन्द्रवर्मानें शक-सम्वत ६६ में एक सरोवरका निर्माण कराया, उस सरोवरके मध्य एक मन्दिर बनवाया और मन्दिरके मध्यमें शिवलिंगकी स्थापना करायी। इसी प्रकार भारतके बाहर सुमात्रा, और जावामें भी जिसको सुवर्णद्वीप और यवद्वीप कहते हैं, भी शिवलिंग मिले थे। हालैण्डके, लीडन, विश्वविद्यालके प्राध्यापक डाक्टर एन जे० कोमने, एक सचित्र पुस्तक लिखी है, जिसमें अनेक देशोंमें प्राप्य शिवलिंगों और शिव-मन्दिरोंका चित्र भी प्रकाशित है। जावा-द्वीपमें एक शिव-मन्दिर, प्राप्त हुआ उसमें भी शिवलिंग मिला। उस शिवलिंगकी लम्बाई दस फुट बतलायी जाती है। इन्हीं तथ्योंके आधारपर कहा जाता है कि, भारतके प्रसिद्ध महर्षि अगस्तने, उन द्वीपोंमें जाकर वहाँकी जनताको शिवलिंग-पूजनकी परम्परा सिखायी थी। इतिहासके इन तथ्योंके आधारपर इतना अवश्य कहा जायगा कि भारतके बाहरके देशमें भी शिवलिंगार्चनकी पद्धति व्यापक रूपसे प्रचलित थी।

संक्षेपमें पुनः इतना समझ लेना चाहिए कि, जिस शिवलिंगका हम पूजन करते हैं, उसके विषयमें हमें भ्रम न रहना चाहिए कि, शिवलिंगका वास्तविक स्वरूप क्या है ? शिवलिंगका वास्तविक स्वरूप 'ब्रह्माण्ड' का रूप है जो 'बलयाकार' अर्थात् दीर्घवृत्ताकार है। वह अनादि, अनन्त, अरूप, अनामका परिचायक है।

●

फाल्गुन मासके दो पुण्यपर्व

शिवरात्रि तथा होली

शिवरात्रि : शिवरात्रिकी बड़ी महिमा है; भारतके सभी प्रान्तोंमें शिवरात्रि व्रतका विशेष प्रचार है। स्थान-स्थानपर इस पर्वपर बड़े-बड़े मेले आयोजित होते हैं। यह शिव तथा शिवाकी वैवाहिक रात्रि है। इस दिनसे उत्तरोत्तर दिन बढ़ता और उत्तापक होता जाता है, केवल रात्रि शान्तिदायिनी होती है; इसलिए भी इसका शिवरात्रि नाम सार्थक होता है। रात्रि शब्द दुर्गा या पार्वतीका भी वाचक है। रात्रि सूक्तके मन्त्रोंद्वारा रात्रि शब्दसे ही देवीकी आराधना की जाती है। कालरात्रि, महारात्रि तथा मोहरात्रि भी इन्हींके स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त शिवरात्रि है, जो शिवद—कल्याणदायिनी है। अपनी विवाह-जयन्तीपर जगत्के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर विशेष उदार होकर आराधकोंकी मनःकामना पूर्ण करते हैं; अतः इस दिन प्रत्येक नर-नारीको जागरणपूर्वक शिव-पार्वतीकी समाराधना करनी चाहिए।

माघ और फाल्गुनकी पूर्णिमाओंके बीचमें जो कृष्णपक्षकी चतुर्दशी आती है, उस दिन शिवरात्रि-व्रत किया जाता है। नारदपुराणके अनुसार फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको शिवरात्रि व्रत बताया गया है। उसमें दिनरात निर्जल उपवास करके एकाग्र चित्त हो गन्ध आदि उपचारोंसे तथा जल, विल्वपत्र, धूप, दीप, नैवेद्य, स्तोत्र-पाठ और जप आदिसे किसी स्वयम्भू आदि लिङ्गकी अथवा पार्थिव लिङ्गकी पूजा करनी चाहिए। फिर दूसरे दिन उन्हीं उपचारोंसे पुनः पूजन करके ब्राह्मणोंको मिष्ठान्न भोजन करावे और दक्षिणा देकर विदा करे। इस प्रकार व्रत करके मनुष्य महादेव जीकी कृपासे देवताओं द्वारा सम्मानित हो दिव्य भोग प्राप्त करता है।

इस व्रतमें उपवास और रात्रिमें जागरणकी विशेष महिमा है। प्रत्येक प्रहरमें भगवान् शिवकी पूजा करे। इसके प्रभावसे पापी सुन्दरसेन नामक व्याधको महान् पुण्यकी प्राप्ति हुई थी। किसी अन्य प्रसंगसे भी शिवरात्रिमें जागना हो जाय तो भगवान् शिवकी अमोघ कृपा बरसने लगती है; फिर जान-बूझकर व्रतका विधिवत् पालन हो, तब तो कहना ही क्या है? अग्निपुराणके अनुसार अभिमत कामनाकी पूर्तिके लिए भी इस व्रतको किया जा सकता है। इससे सौभाग्य, आरोग्य, विद्या, धर्म, धन, कामभोग, गुण, कीर्ति, सुख, स्वर्ग और मोक्ष सब सुलभ होते हैं। शिवपुराणमें इसकी महिमाका विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

होली : फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको सर्वत्र होलिका-दाह किया जाता है और उसके दूसरे दिन वसन्तोत्सव मनाया जाता है। फाल्गुन मधु-माधव (वसन्त) का सखा है। यह हमें श्रीकृष्ण-सखा अर्जुनकी याद दिलाता है। वसन्त-पञ्चमीको ही ऋतुराजके आगमनकी सूचना मिल जाती है। आममें बौर लगने शुरू हो जाते हैं। इस समय तक नयी फसलें देखकर किसानोंमें नयी जिन्दगी जाग उठती है। गन्नोंके मधुररससे इस महीनेका मिठास और बढ़ जाता है। वृक्षोंके पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और नूतन हरित दल अङ्कुरित हो जाते हैं। इसी तरह फाल्गुन मासमें लोगोंके विषाद-अवसाद मिट जाते हैं और नयी मस्ती नयी उमंगकी अनुभूति होने

लगती है। फाल्गुन मास और होली प्रीति-रीतिका पर्व है। इसमें सब एक दूसरेको उन्मुक्त हृदयसे आन्तरिक प्रेम और अनुराग लुटाते हैं। ढोल और झांझ बजाकर फाल्गुनके गीत गाते और मूर्तिमान् अनुरागके रूपमें परस्पर रंग डालते हैं। इस मासमें बालकोंकी चपलता कुछ बढ़ जाती है और वे हास-परिहासके साथ शरारतें करनेसे भी बाज नहीं आते हैं। इसीलिए ऐसे अवसरोंपर कवि लोग 'फाल्गुने बालक इव' की उपमा प्रस्तुत करते हैं। देहात हो या शहर, सर्वत्र रिश्तेदारोंका स्वागत अबीर, गुलाल और गुलाबी रंगसे किया जाता है। नर और नारियाँ भी रिश्तेके अनुसार परस्पर डाले गये रंगमें सराबोर होकर अधिक आनन्दकी अनुभूति करते हैं।

व्रजमें होलीका पर्व अधिक प्रीतिवर्धक, सरस तथा धार्मिक देखा जाता है। वहाँ सब कुछ श्रीराधा तथा श्रीकृष्णके परिकरोंका खेल समझा जाता है। बरसाना, नन्दगाँव, वृन्दावन बिहारी तथा मथुरा-द्वारकाधीशके मन्दिरोंमें होलीका उद्दाम उत्सव भी परम सात्त्विक तथा भक्तिभावनासे परिपूर्ण वातावरणमें मनाया जाता है। बरसाने और नन्दगाँवमें भगवान्‌की उस अवसरके अनुरूप हुई लीलाके अनुसार सारे आयोजन होते हैं। मन्दिरमें भगवान्‌की बड़े समरोहसे पूजा-आरती होती है; अबीर, गुलाल, इत्र, फुलेल, अर्गजाकी वर्षा-सी होती है। उद्दाम कीर्तन होते तथा प्रेम-भक्तिके पद गाये जाते हैं। प्रेमी भक्तोंकी मण्डली प्रीति एवं रससे विभोर होकर नृत्य करती है। दूर-दूरके लोग उस उत्सवमें बड़ी श्रद्धा और उत्साहसे सम्मिलित होते हैं। छिपे हुए साधुसन्त-संन्यासी भी उस दिन बरसानेकी गलियोंमें घूमते दिखायी देते हैं। सुगन्धपूरित विविध रंगोंसे सराबोर स्त्री पुरुषोंकी भीड़ बड़ी सुहावनी प्रतीत होती है। लट्ठमार होलीका दृश्य वहाँ अद्भुत है। मानो साक्षात् नन्दनन्दन अपने सखाओंके साथ होली खेलने पधारे हैं और बरसानेकी सुन्दरियाँ प्रत्येक घरके द्वारपर लाठियाँ लिये उनकी प्रतीक्षा करती हैं; ज्यों ही सखाओंकी मण्डली आती है, लाठियोंसे उनका स्वागत शुरू हो जाता है। उस दृश्यको देखकर हम अतीत द्वापरमें पहुँच जाते हैं और जीवनकी अपूर्व सार्थकता अनुभव करने लगते हैं। समूचे भारतमें होलीका यह पर्व बड़े समारोहसे मनाया जाता है। यदि इस पर्वसे गाली-गलौजको निकाल दिया जाय और लोग दूसरोंको तंग करनेकी नीयतसे उनपर गन्दी चीजें न फेंके तो यह उत्सव और भी सरस एवं मनोरम हो जाय। हमें इस पर्वको एक संघटनके रूपमें मनाना चाहिए। यह देशके जन-जनमें भावात्मक एकता लानेमें विशेष सहायक होगा।

होलीका विशेष कृत्य : नारदपुराणके अनुसार फाल्गुनकी पूर्णिमाको सब प्रकारके काष्ठों और उपलों (कंडों) का संग्रह करना चाहिए। रक्षोघ्न मन्त्रों द्वारा विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देकर होलिकापर काष्ठ आदि फेंककर उसमें आग लगा दे। इस प्रकार दाह करके होलिकाकी परिक्रमा करते हुए उत्सव मनावे। यह होलिका प्रह्लादको भय देनेवाली राक्षसी थी। इसलिए गीत और मंगलपाठके साथ काष्ठ आदिके द्वारा लोग उसका दाह करते हैं। मतान्तरके अनुसार यह होलिका-दाह मदन-दहनका प्रतीक है। होलिकाके दूसरे दिन पूर्वाह्णमें होलिकाके भस्मको अंगमें लगाने तथा चाण्डालस्पर्श करनेकी प्रथा है। फिर नहा-धोकर गीत गाने तथा रंग-राग उठानेकी प्रक्रिया चलती है। लोग परस्पर गले मिलते हैं और परस्पर हार्दिक प्रीति उड़ेलते हैं। ●

कविवर 'सूर' द्वारा श्याम, श्यामा तथा गोपियोंकी
रंगलीला का सरस चित्रण—

व्रजकी होली--

उड़त गुलाल लाल भये बादर

डाक्टर श्री नागेश्वर सिंह 'शशीन्द्र' विद्यालङ्कार,

★

होलीका उत्सव वसन्त ऋतु की मधुर भावनाओंका सामाजिक प्रदर्शन है। जहाँ भाँति-भाँतिके रंगोंसे प्रकृतिसुन्दरी रंग उठती है, जन-मनका स्नेह भी अबीर-गुलाल बन सारे वातावरणको रंगीन बना देता है।

और फिर कविकी वाणी इस प्राकृतिक सौंदर्य एवं मानव-मनके आनन्दको अपार रसमय वाणी दे उठती है। इस उत्सव पर बहुतोंने बहुत पद लिखे लेकिन रासेश्वर कृष्णकी रंगलीलापर जो पद सूरने लिखे वैसा शायद ही किसीने लिखा हो। सूरदास कन्हैयाकी उस रंगलीलाका वर्णन करते हैं जिसके सामने संसारकी कोई उपमा नहीं ठहर सकती :—

खेलत नवल किसोर किसोरी।
नन्द-नंदन वृषभानुसुता चित लेत परस्पर चोरी॥
औरो सखी जाल बनि शोभित सकल ललित मन गोरी।
तिनकी नख शोभा देखत ही तरनि-नाथ मति भोरी॥
एक गुलाल अबीर लिए कर इक चन्दन इक रोरी।
उपरा उपरि छिरकि रस रस भरि कुलकी परिमित फोरी॥
देत असीस सकल व्रज जुवती जुग जुग अविचल जोरी।
सूरदास उपमा नहिं सूझत जौं कुछ कहौं सु थोरी॥

सूरदासकी सखी आत्मा अपनी सखीसे कहती है कि आज कन्हैया होली खेलने आयेंगे, तुम्हारे लिए तो यह 'सगुण संदेशा' है कि तुम्हारे आँगनमें कागा बोल रहा है। राधाके कानों जब इस 'सगुण संदेशा' की बात पहुँचती है तो वह अपनेको बड़भागी कहने लगती है और उस मिलन आनन्दको लूटनेके लिए सबको जागनेको कहती है—

तेरे आवैंगे आज सखि हरि खेलनको फाग री।
सगुन संदेसौ हौं तेरे आँगन बोले काग री॥

मदन मोहन तेरैं बस माई सुनि राधे बड़भाग री।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ का सोवै उठि जाग री॥
चोवा चंदन लै कुमकुम अरु केसरि पैंचा लाग री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौ राधा अचल सुहाग री॥

वहाँ गुलाल और अबीर रंग न रहकर मनके अपार सरस स्नेहको सृष्टिके कण-कणमें लुटा देनेका माध्यम बन गया है। वहाँ सूरकी वाणी सजीव बन गयी है—

होरी खेलत खोरिनमें ब्रजबाला बनि-बनि बनवारी।
डफकी धुनि सुनि विकल भई सब कोई न रहत घर घूंघटधारी॥
जाहि अबीर देत आँखिनमें, ताहीको छिरकत पिचकारी।
सौंधे तेल अबीर अरगजा, तैसी जरद केसरि चटकारी॥
उड़त गुलाल लाल भये बादर रंगि गए सिगरे अटा अटारी।
सूरदास वारी छवि ऊपर, कल न परति छिन बिनु गिरधारी॥

इस होलीके हुलासके बहाने ही अपनी अन्तरकी भावना गोपियोंके माध्यमसे कवि पुनः प्रकट करता है—

हरि संग खेलत हैं सब फाग।
इहि मिस करति प्रकट गोपी उर अन्तर कौ अनुराग॥
सारी पहिरि सुरंग कसि कंचुकी काजर दै दै नैन।
बनि-बनि निकसि-निकस भई ठाढ़ी सुनि माधोके बैन॥
डफ बाँसुरी सँज अरु महुआरे, बाजत ताल मृदंग।
अति आनन्द मनोहर वाणी, गावत उठति तरंग॥

सभी सखियाँ लज्जा छोड़कर एक दूसरेको गाली देती हैं और कृष्णको भी अपने बीच ले आयी हैं—

एक क्रोध गोविन्द ग्वाल सब एक क्रोध ब्रजनारि।
छाँड़ि सकुच सब देति परस्पर अपनी भाई गारि॥
मिलि दस-पाँच अलि चली कृष्णहिं जाहि लावति अचकाई।
भरि अरगजा अबीर कनक घट देति सीस तैं नाइ॥
छिटकति सखि कुमकुमा केसरि चुटकति बंदन धूरि।
सोभित है तनु साँझ समै घन आये हैं मनु पूरि॥

सभी दिशाओंमें रंगोंकी बौछार है। सबकी नजर होलीके हुड़दंगसे निकले कृष्णपर लगी है—

दसहुँ दिसा मचौं परि पूरन सूर सुरंग प्रमोद।
सुर विमान कौतुहल भूले निरखत श्याम विनोद॥

•

भारतीय शास्त्रोंमें विश्वमानव इतिहास !

श्री बालमुकुन्द चतुर्वेदी

★

पाश्चात्य कूटनीतिने भारतीय शास्त्रोंमें वर्णित पुरातन विश्वके इतिहासको छिन्नभिन्न करने और उसपरसे जनताका विश्वास उठानेका जो सत्ताके अधिकारके साथ योजनाबद्ध प्रयास किया उसके तीन भयानक परिणाम हमारे सामने आये हैं :—

१. विद्वान् और पण्डित कहे जानेवाले हमारे वर्गके लोगोंको भी प्राचीन शास्त्रोंकी सत्यता और प्रमाणिकता पर अविश्वास होने लगा है।

२. नयी पीढ़ीके लोग आर्योंके बाहरसे आकर यहाँ बसनेकी झूठी कल्पनाको लेकर नये-नये तर्क कुतर्क करने लगे हैं।

३. अभारतीय लोगोंको हमारे शास्त्रोंपर प्रहार करनेका एक नया अवसर मिल गया है। देशके शासनपर भी इसका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

हमारे शास्त्रों-पुराणोंके मूल वर्णन ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण होनेपर भी परवर्ती लोगों द्वारा जो उनके भ्रान्त अर्थ लगाये गये उसके मूलमें ६ प्रधान कारण हैं :—

१. घटनाओंके क्रममें हजारों धर्मोंका लम्बा व्यवधान होना।

२. व्यासों, सूतों, ऋषियों, महर्षियों द्वारा अनेकों धाराओंमें इनका विभाजन, संकलन और आदान-प्रदान किया जाना।

३. मौखिक कथाओं, संक्षिप्त सूत्रों, रहस्यमय मन्त्रों और गोपनीयताके संकल्पों द्वारा इन घटनाओंका परम्परागत प्रवाह बहुमुखी बन जाना।

४. भाषाकी पुरातन रचना-शैलियों, असंकृतियों, रूपकों और मुहावरोंके प्रयोगोंके सम्बन्धमें आजकलके लोगोंमें जानकारीकी कमी।

५. श्रद्धा-भक्ति और भावातिरेकमें ऐतिहासिक पुरुषोंको ईश्वर, परब्रह्म आदि स्वीकार कर लिये जानेपर उनके विषयमें अलौकिक भावनाओं और मान्यताओंकी संस्थापना।

६. यूनानियों, जैनों, बौद्धों और मुसलमानों द्वारा धार्मिक संघर्ष और उथलपुथल।

उक्त कारणोंसे इतिहासपर जो स्वच्छन्द कथा-रूपकोंका कलेवर बढ़ा है, उसके अन्तरालमें यथार्थ घटना तथ्य क्या हैं, इनका पता भी हमारे पुरातन शास्त्र ही देते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि १,१२,००० वर्षके इस लम्बे ऐतिहासिक समयमें जबकि विश्वके शेष सभी भूखण्डोंके पुरातन इतिहास ग्रन्थ लुप्त हो गये, केवल भारतवर्ष और उसके मूल निवासी हिन्दू जातिके ही इतिहास ग्रन्थ और धार्मिक अभिलेख इस दुर्लभ विधिको सम्हाले हुए जीवित बचे हैं। कालके प्रहारोंने हिन्दू पुराणों, शास्त्रोंका बहुत कुछ अंग-भंग किया है फिर भी इनमें जो कुछ बचा है वह भी इतना सारगर्भित, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तथ्योंसे पूर्ण है कि उसके द्वारा आज भी सारे विश्वके देशों और मानवोंका १,११,००० वर्षसे आरम्भ होनेवाला शृंखलाबद्ध इतिहास तैयार किया जा सकता है।

इस सम्बन्धमें निरन्तर ३२ वर्षोंसे मैंने जो शोधकार्य किया है, उसके परिणाम शत प्रतिशत आशाजनक हैं। यह सही है कि आज तक विश्वके किसी देशी या विदेशी विद्वान्ने पुराणोंको इस भारतीय इतिहास पद्धतिसे समझने और उसके द्वारा पुराणकी सारी घटनाओंको सही रूपसे क्रमबद्ध करनेका प्रयास नहीं किया है। 'भारतीय इतिहास पद्धति'को न समझ सकनेके कारण ही अबतकके प्रायः समस्त इतिहास-शोधक अपने प्रयासोंमें विफल रहे हैं और अपनी विफलताको उन्होंने पुराणोंको लाञ्छित करने, और कोसनेके रूपमें प्रगट करके आत्म-संतोष प्राप्त करनेकी भी चेष्टा की है।

"भारतीय इतिहास पद्धति"की अपनी नूतन उपलब्धिके द्वारा हम यह सिद्ध करके दिखा सकेंगे कि हिन्दू-पुराण-शास्त्र वैज्ञानिक हैं, ऐतिहासिक तथ्योंसे युक्त हैं और उन्हें असम्बद्ध कहने वाले अज्ञानमें भटके हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक योजनाबद्ध रूपमें यदि कार्य किया जाय तो आधुनिक युगके वैज्ञानिक आधारोंपर भी निम्न तथ्य सुनिश्चित ढंगसे प्राप्त किये जा सकते हैं :—

१. कालावधियोंका यथार्थ निर्धारण :—

(क) इसमें महत् कल्प १,१०,००० वि० पू० से ८६,००० वि० पू० तक हिरण्य-गर्भकल्प ८६,०० वि० पू० से ६२,००० वि० पू० तक, ब्रह्मकल्प ६२,००० वि० पू० से ३८,००० वि० पू० तक, पाद्मकल्प ३८,००० वि० पू० से १४,००० वि० पू० तक, तथा वाराहकल्प १४,००० वि० पू० से वर्तमान काल तकका क्रमबद्ध निरूपण। मन्वंतरों, मन्वंतर संस्थापकोंके समयों और शासन क्षेत्रोंकी खोज।

(ख) अवतारोंका समय उनके कार्यक्षेत्र और कार्यकलापोंकी वैज्ञानिक पद्धति।

(ग) देववंशों, ऋषिवंशों, सूर्यवंश, चन्द्रवंश, दैत्य-दानववंशोंके समयों, घटनाओं तथा स्थानोंकी खोज।

(घ) युगोंका कालमान तथा वर्तमान समयके युगकल्पकी परीक्षात्मक शोध।

२. पौराणिक भूगोलकी संरचना :—

(क) इस खंडमें सुमेरु पर्वत, उसके चारों ओरकी देवपुरियां, सात समुद्रों, सप्तद्वीपों, नव खंडों, मर्यादा पर्वतों, देव नदियों, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, प्रेतों, पितरोंके खंडों आदिकी खोज।

(ख) कल्पांत प्रलयों, भूपरिवर्तनों, द्वीपोंके विलय, जनोन्मूलनों, प्रजापुनर्वासों आदिका पुरातन लेखा-जोखा और सही मूल्यांकन ।

(ग) विश्वके पुरातन मानववंशों, उनकी भाषाओं, उपासना पद्धतियों, परिधानों, आहार-विहार आदि उनकी जीवन-चर्चाओंकी विस्तृत शोध ।

३. पुरातन युगोंमें भारतवर्षकी स्थिति :—

(क) विश्वमानव-चेतनाकी आदिभूमि, ब्रह्मर्षि देश, उसकी सप्रमाण ऐतिहासिक स्थिति ।

(ख) 'आर्य बाहरसे आकार इस देशमें बसे', इस मिथ्या प्रवादका सप्रमाण खण्डन ।

(ग) भारतकी प्रत्येक कल्पमें स्थिति, यहाँके ज्ञान-विज्ञान, विद्याओं और कलाओंका विश्वपर वर्चस्व संस्थापन ।

(घ) भारतके विश्वविजयी चक्रवर्ती सम्राट्, विश्ववेधा-देवगण, विश्वदीक्षाप्रद ऋषि महर्षिगण, यज्ञोपयोक्ता प्रजाजन, विद्या और कलाओं की संरक्षक जातियाँ यक्ष, गंधर्व, किन्नर, सिद्धगण, साध्यगण, अप्सरागण, भूत, प्रेत, पितृगण, आदिकी खोज और परिचय ।

४. वाराह कल्पके मानव-वंश (२४००० वि० पू०) :—

(क) स्वायम्भुवमनुसे पूर्वका मानव समाज ।

(ख) स्वायम्भुवमनुका समय, स्थान, शासित प्रदेश और राजधानी ।

(ग) मनुपुत्र प्रियव्रत, उत्तानपाद, ध्रुवके शासनक्षेत्र और राजधानियाँ ।

(घ) मनुओं और मन्वंतरोंकी ऐतिहासिक विवेचना ।

(ङ) ध्रुव, प्रह्लाद, अंग, वेन, पृथु, हर्यश्व, प्रचेतागण, कश्यपवंश, वैवस्वत मनु, इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, मरुचक्रवर्ती, अंबरीष, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, राम, जनक, पुरुरवा, नहुष, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अलर्क, दुष्यंत, भरत, जरासंध, पांडव, कौरव, यादवों और श्रीकृष्णके जीवनकी ऐतिहासिक प्रस्तुतियाँ ।

५. कुछ प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओंका ऐतिहासिक विवरण :—

(क) मनु और उनकी प्रजाओंका देश ।

(ख) भगवान् नारायण, पद्मनाभ द्वारा मानसी और मैथुनी सृष्टिकी रचना ।

(ग) वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम आदि अवतारोंकी जन्मभूमि और उनके कार्यकलापोंका वैज्ञानिक प्रतिपादन ।

(घ) वामन और बलिका यज्ञ, विवाह-स्थल और तीन लोक नापनेकी वैज्ञानिक प्रक्रिया ।

(ङ) समुद्रमंथनका स्थान और इस महाभियान की आयोजनाका वैज्ञानिक स्वरूप ।

(च) दक्ष-यज्ञका क्षेत्र ।

(छ) सगरकी राजधानी और भगीरथकी गंगावतरण-योजनाका ऐतिहासिक रूप ।

(ज) सहस्रबाहु और विश्वामित्रका ऐतिहासिक संग्राम क्षेत्र ।

(झ) वशिष्ठ और विश्वामित्रकी संघर्ष-भूमि ।

(ट) रामरावण-युगकी घटनाओंकी ऐतिहासिक स्थापनाएं ।

(ठ) कृष्णावतारकी जीवन घटनाओंसे सम्बन्धित स्थलों और क्रियाकलापोंका स्पष्टीकरण ।

ऐतिहासिक गवेषणाके इन सभी विषयोंपर गहरी दृष्टियोंसे शोधकार्य किया जाना अति आवश्यक है । भारतके गौरवको और पुरातन ऐतिहासिक निधिको जीवित रखना है तो बुद्धिवादियोंको भारतीय इतिहासका ज्ञान-विज्ञानसे परिपुष्ट पुरातत्त्वमय रूप बतलाना होगा । इस आयोजनकी पूर्तिसे हमारे पुरातन शास्त्रों, वेदों, पुराणों द्वारा ८८,००० वर्ष पूर्वसे अब तकके युगोंका एक महान् गवेष्णात्मक इतिहास तैयार होगा जो अभी तक सारे विश्वके लिए अज्ञात है ।

इस तरह इस इतिहासका विश्वव्यापी और एक बहुत बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है । यह प्रयास हमारे राष्ट्रीय गौरवकी अभिवर्द्धनाका एक अति महत्त्वपूर्ण प्रयास इस कारणसे भी है कि इसके प्रकाशनसे भारतवर्षको और उसके पुरातन साहित्यको इतिहास-क्षेत्रमें एक महती अभिवर्धनाका सन्मान प्राप्त होगा । प्राचीन शास्त्रोंकी महती गरिमाको विश्ववंदनीय बनानेका वास्तवमें यह एक युगान्तरकारी प्रयास होगा, इससे वर्तमान इतिहास और पुरातत्त्वकी भ्रान्त प्रकल्पनाओंका भी सप्रमाण उन्मूलन होनेसे युगोंसे छाया एक महत् अज्ञानान्धकार इतिहास क्षेत्रसे दूर हो जायगा । एक गलत अन्तर्राष्ट्रीय भ्रान्तिको लेकर जो सरकारके धनका करोड़ों रुपयोंकी राशि राखमें होम हो रही है तथा राष्ट्रकी भावी पीढ़ियोंको आत्म-पराभवका विष पिलाया जा रहा है । इस प्रयासके द्वारा देशको उससे भी मुक्ति मिलेगी ।

यह कार्य बहुत विशाल और साधन अपेक्षित है । बिना किसी व्यवस्थित योजनाके इसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता । ३५ वर्षोंसे अकेला ही मैं अपने सीमित साधनोंसे इस पर कार्य कर रहा हूं । अस्तु इसे आगे बढानेके लिए एक योजनाबद्ध कार्य करनेवाले 'संस्थान' की आवश्यकता है, जिसकी संरक्षणतामें यह कार्य आगे बढ़े ।

आशा है दानवीरोंकी इस पवित्र भूमिमें कोई माईका लाल इस प्रयासकी कीर्ति-ध्वजा अपने हाथोंमें लेकर जननी-जन्मभूमि और पवित्र पुरातन निधिकी महती सेवाका श्रेय-भागी बनेगा ।

•

श्रीवृन्दावन

वृन्दावन ही भगवान्का सबसे प्रियतम धाम है। वहाँ सदा श्याम तेज विराजमान रहता है। वह आनन्दका मूर्तिमान् विग्रह है। भगवान् श्रीकृष्णकी चरणरजका स्पर्श होनेके कारण वृन्दावन इस भूतलपर नित्य धामके नामसे प्रसिद्ध है। उसे भगवान्के स्वरूपसे भिन्न नहीं समझना चाहिए। वह अखण्ड ब्रह्मानन्दका आश्रय है। जहाँकी धूलिका स्पर्श होने मात्रसे मोक्ष हो जाता है, उस वृन्दावनके माहात्म्यका किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है?

—पद्मपुराण

उद्योग और उत्साहका महत्त्व

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम्॥

पश्य कर्मवशात् प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथंचन॥

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम्॥

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः॥

'जैसे एक हाथसे ताली नहीं बजती, उसी प्रकार उद्यम त्याग दिया जाय तो कर्मका फल मिलकर भी उपयोगमें नहीं आता। देखो कर्म या भाग्यसे भोजनके समय मिला हुआ भोजन भी हाथसे उद्यम किये बिना किसी तरह मुँहमें नहीं जा सकता। उद्योगसे ही कार्य सिद्ध होते हैं, केवल मनसूबे बाँधनेसे नहीं; सिंह सोया हो—उद्यम न करें तो मृग स्वतः आकर उसके मुँहमें नहीं समा जाते हैं। जहाँ उत्साहपूर्वक कार्यका आरम्भ होता है, जहाँ आलस्यका सर्वथा अभाव होता है तथा जहाँ नीति और विक्रमका संयोग होता है, वहाँ लक्ष्मी निश्चय ही अचल होकर रहती है। जो उत्साही, अदीर्घ-सूत्री, कर्म करनेके ढंगका जानकार और व्यसनोंसे दूर रहनेवाला है; तथा जिसमें शौर्य कृतज्ञता एवं सुदृढ सौहार्द है, उसे लक्ष्मी अपने निवासके लिए खोजती फिरती है।

[—पञ्चतन्त्रसे

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा के लिए देवधर शर्मा द्वारा
आनन्दकानन प्रेस ढुण्ढिराज, वाराणसी—१
में मुद्रित एवं प्रकाशित